अतीत का अभिनवालोक

मायाप्रसाद त्रिपाठी

अतीत
का
अभिनवालोक

•

प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी

प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी की अन्य कृतियाँ

१. कथाशेष (प्राचीन भारतीय विज्ञानों के बिलकुल नए पहलू).
२. आविष्कारों का आवाहन (सैकड़ों-सहस्रों वर्ष बाद विज्ञान).
३. विज्ञान के नए सत्य नए वादे (वर्तमान विज्ञान और उसका अगला डग).
४. साढ़े सात फुट की तीन औरतें (भविष्यनिर्मात्री विज्ञान-कथाएँ).
५. आकाश की जोड़ी (अनूठी मनोहर विज्ञान-कथाएँ).
६. षोडशी (सनसनीखेज, रोचक, उदात्त सामाजिक कहानियाँ).
७. प्यार और पनाह (जीवन की अद्भुत पर्तों में अंकुरित और पल्लवित मुग्धकर कथाएँ).
८. तृप्ति (रहस्य रोमांच का जीवनदर्शन और सत्य से अपूर्व समन्वय करनेवाला उपन्यास).
९. Development of Geographic Knowledge in Ancient India (from Vedic Times to 1200 A. D).
१०. Stabilisation of World Peace (acclaimed by President D. D. Eisenhower).
११. जापान की रूपरेखा.
१२. युगपथ से चीन.

शिशु-साहित्य

१३. चौपाल की ताजी कहानियाँ.
१४. अंगूर के दाने (बालकों के लिए अभिनव कहानियाँ).
१५. पिटारी में इन्द्रधनुष (हृदय छूनेवाली सत्य से भरी कहानियाँ).
१६. अपने लाल हीरों के लिए (बालकों के लिए बालकों और किशोरों की ही कथाएँ).
१७. पोंगानाथ (हँसाकर लोटपोट करनेवाली कहानियाँ).
१८. बागड़बिल्ला (बच्चों के लिए मनोहर गीत).
१९. रसगोला (शीरे से सराबोर शिशुगीत).

अतीत का अभिनवालोक

प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

पौरस्त्य और पाश्चात्य की अजस्त्र एकता
के उत्खनन में स्वयं समर्पित

•

शाश्वत अध्येताओं, विद्यार्थियों
तथा सुधी पाठकों को,

•

उनकी त्रिविक्रमता के
मांगल्य प्रयासों के प्रशंसन एवं
शुभांसन के उपलक्ष्य में

हेतु

वैज्ञानिक त्रिपार्श्व में विश्लिष्ट और कथा के आंगिक-वाचिक हावभाव की मोहिनी से संस्पृष्ट अठारह रश्मियों के संवलन और संगम में युगयुगान्तर के कुछ परम अभिराम एवं विस्मयावह सत्य, तिमिरोन्मीलन की एक विशिष्ट यात्रा में 'ऐसा कभी हुआ था' के अभिनव तड़िदुन्मेष में नूतन प्रेरणा-स्फुरणा जगाने के लिए, माटी-पाहन और भोजपत्रों में वर्द्धमान रस-संभार बढ़ाने के लिए और दृष्टिकोण में क्रान्तिवह किन्तु यथार्थ नवीनता तथा विस्तारणा लाने के निमित्त सबके सम्मुख कलेवर-बद्ध किये जा रहे हैं।

अपने इस वपुर्विन्यास से पूर्व ये रश्मियाँ 'आज', 'भारत', 'धर्मयुग', 'सम्मेलन-पत्रिका', प्रभृति में उन्मीलित हो चुकी हैं।

—मायाप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०

संस्कार

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण बड़ी त्वरा में मुद्रित होने जा रहा है, फिर भी लेखक की १९७३ तक की प्रस्तुत गवेषणाओं का सार इसमें बीजरूप से बहुसंख्यक स्थानों पर समाविष्ट कर लिया गया है।

आशा है, तृतीय संस्करण में संशोधन-परिवर्धन अपना पूरा स्वरूप प्राप्त कर लेंगे।

जय संस्कृति, जय सभ्यता।

लंका (का० हि० वि० वि०),
वाराणसी

—मायाप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०

विषयक्रम

रश्मि | पृष्ठ

भारत में कोयला संदोहन-उद्योग

भास्कर के समान भास्वर मिस्र के परम कीर्तिशाली सम्राट् रैमसीज़ द्वितीय का अतुलित वैभव-सम्पन्न साम्राज्य मरु-सागर के झंझा में न जाने कब का तिरोहित हो चुका है, विश्व-विजेता अलेक्जेण्डर महान् की विजय का तूर्यनाद और उसकी आतंक-उद्वेलित असीम-सीमा सहस्राब्दियों पूर्व ध्वस्त हो चुकी हैं, भारत की उपनिवेश-गरिमा कथाशेष मात्र रह गयी है, समुद्रगुप्त का दिग्विजयनिर्घोष हिमालय की अवदात हिमराशि में पुंजीभूत होकर सर्वथा जड़ हो चुका है, परन्तु कोयला-वंश का शासन इतिहास के प्रथम अरुणोदय से आज तक विकसित, पल्लवित और उत्तरोत्तर समृद्ध तथा विस्तृत ही होता गया है। गौरांगी महामहिमामयी विद्युत् का आविर्भाव हुआ, गौरी वा महेशानी के समान वह सर्वव्यापिनी सर्वदिक्-संचारिणी हुई, परमाणु-शक्ति समस्त देशकाल को अपने ब्रह्म-रन्ध्र वा नाभि-रन्ध्र में ही विस्थापित वा प्रस्थापित कर लेना चाहती है, परन्तु इन सबसे क्या होता है ? कोयला-वंश की अक्षुण्ण सत्ता आज भी समस्त भूमण्डल पर ज्यों-की-त्यों व्याप रही है। गरीबों की इस परमाणु-शक्ति वा ईश्वर की महाशक्ति के इस काले परिवार से घृणा की बात नहीं। ये धरती-सुत सीता के सहोदर होने के नाते युगादिम से भारतीयों के अत्यन्त समीप और बड़े घनिष्ठ रहे हैं। भविष्य में भी सारा संसार इनके अनुग्रह का परम अभिलाषी रहेगा और इनकी छत्र-छाया में फलता-फूलता रहेगा।

ऐसा लगता है कि वैदिक-काल में इस वंश का कहीं पता नहीं था। वैदिक ऋषियों से इनका कोई सम्बन्ध वा सम्पर्क नहीं था। लोहा, सोना, सीसा आदि से तो वे भली-भाँति परिचित हो चुके थे, पर कोयले से न कोई पहचान थी और न इसके निकालने वा संदोहन की परिपाटी।

निसर्ग-अभिजात स्तर-मण्डित वसुमती द्वारा लालित-पालित कोयले का सर्वप्रथम निःसन्दिग्ध उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में (१००० वा २००० ई० पू०) आता है। इस ब्राह्मण में पत्थर के कोयले की चर्चा एक-आध वार नहीं, प्रत्युत कई वार आयी है। उक्त ब्राह्मण एक प्रसंग में विशदीकरण की अपनी वैयक्तिक शैली में कहता है, 'और पुनः, मित्र और वरुण के लिए एक वन्ध्या गाय क्यों है ? अब जब देवताओं ने वोये हुए बीज को अंकुरित किया, तो अग्नि-मारुत नाम का शस्त्र (प्रार्थना-मन्त्र) होता है। इस सम्बन्ध में यह समझाया गया है कि देवताओं ने उस बीज को कैसे अंकुरित किया उससे कोयले (अङ्गार) की उत्पत्ति हुई और कोयले से अङ्गिरस की, और तदनन्तर अन्य जीवों की (४।५।१।८)।' अन्तिम वाक्य से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि यहाँ पत्थर की विविध अवस्थाओं का अति संक्षेप में निरूपण है ही, साथ ही उसमें जीव-जन्तुओं की सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या का भी सूक्ष्म वट-बीज समाहित है। दूसरे शब्दों में इसमें भूतात्त्विक अनुक्रमिक काल-सोपानों का स्वीकरण और उल्लेख तो है ही, उसके साथ-साथ पृथ्वी पर जीव-सृष्टि के आदिम इतिहास के विविध युगों की ओर भी सूक्ष्म किन्तु शुद्ध इंगित है। भूतत्त्व की शब्दावली में, उद्धृत अनुच्छेद में पुराकल्प (पैलियोजोइक) के नवीन पुराकल्प के कार्वोनीफरस अथवा अंगार युग का संकेत है, जिसमें प्राकृतिक कोयले का बीजारोपण होता है और उसी शृङ्खला में जल-स्थल-चारी जीवों के विकास का क्रम चलता है। उपर्युक्त सुष्ठु निरूपण अज्ञानावृत कल्पना-जन्यता के स्थान पर वैज्ञानिक मनीषा पर विशेष आधारित प्रतीत होता है। इससे एक और बात परिलक्षित होती है कि शतपथ ब्राह्मणकाल में खनिज कोयला निकाला भी जाता रहा होगा। उपरिकथित वर्णन में व्याव-हारिक अनुभव से प्राप्त ज्ञान का भी अभिषवण संगृहीत द्योतित होता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में भी कोयले की असकृत् चर्चा आयी है। आरण्यक के जिस अनुच्छेद में 'अङ्गार' शब्द आया है, उसकी टीका में सायण ने कल्प के ऐसे बहुसंख्यक स्थलों को उद्धृत किया है, जिसमें अङ्गार शब्द

का कई बार प्रयोग किया गया है। कालानुक्रम की सामान्य-सारणी पर यह आरण्यक भी शतपथ ब्राह्मण की बात को और पुष्टि प्रदान करता दिखाई पड़ता है। वैसे यह बात विवादग्रस्त हो सकती है कि आरण्यक और कल्प में पत्थर के कोयले की ही चर्चा है।

रामायण में वर्षा का अभिराम, रंगमय और मूर्ति-पेशल चित्र खींचते हुए वाल्मीकि शाखाओं से लटकती हुई काली-काली जामुनों की उपमा कोयले के खण्डों के समूहों से देते हुए कहते हैं—

अङ्गारचूर्णोत्कर-सन्निकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्वुद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः ॥

'कोयले की टुकड़ियों की राशियों के समान काले-काले पके-पके रसाकुल फलों से लदी हुई जामुन की शाखाएँ ऐसी शोभायमान हो रही हैं, जैसे असंख्य भौंरे उन्हें चपटकर पी रहे हैं।'.

तर्क-प्रणाली यह प्रतिपादित करती है कि शतपथ ब्राह्मणकाल में कोयले के संदोहन की आरम्भ होने वाली परम्परा रामायणकाल में सतत वर्द्धमान ही रही होगी।

महाभारत में भी कोयले का संकीर्तन है। एक स्थान पर उसे अलात के नाम से अभिहित किया गया है। कौटिल्य ने भी कोयले का उल्लेख किया है।

कामसूत्र (कालिदास के पूर्व) में भी खनिज कोयले का स्पष्ट परिनिर्देश आया है। स्त्रियों तक को इस कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने की बात कही गयी है।[1]

---

१. वि० दे०-न्यूयार्क से सद्यः प्रकाशित कामसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद। इस आंग्ल-ग्रन्थ में इसके Colliery शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है।

पाँचवीं शती का अमरकोश कोयले के वाचक अङ्गार शब्द के पर्याय लिखते हुए कहता है—

'अङ्गारोऽलातमुल्मुकम् ।'

कोई कारण नहीं दीखता कि इसमें पत्थर का कोयला भी न समाविष्ट हो ।

आठवीं शती के जैन प्राकृत ग्रन्थ 'समराइच्च कहा' (समरादित्य कथा) में तत्कालीन समाज के सभी वर्गों की जीविका वा वृत्तियों की एक बड़ी विस्तृत तालिका दी हुई है । इसमें कोयले के व्यापार का भी परिनिर्देश है । उसे 'इङ्गालकम्म' (अङ्गारकर्म) की संज्ञा प्रदान की गयी है । यह उल्लेख स्पष्ट दिखाता है कि इस ग्रन्थ के प्रणयनकाल तक कोयले का व्यापार पर्याप्त विकसित और समृद्धिशाली हो चुका था । इसीलिए वह व्यापार का एक पृथक् महत्त्वपूर्ण विभाग वन गया था, जिसे उक्त ग्रन्थकार को उस पृथक् व्यापार वा पण्य की अलग स्पष्ट चर्चा करनी पड़ी । बहुसंख्यक लोग केवल कोयले के व्यापार पर सर्वथा अवलम्वित रहकर न केवल अपनी ही जीविका चलाते रहे होंगे और श्रीमान् श्रेष्ठी गिने जाते रहे होंगे अपितु उसके द्वारा अन्य अनेकानेक श्रमकादिकों को भी वृत्ति का का माध्यम प्रदान करते रहे होंगे । इसमें प्रायेण पत्थर के कोयले का ही उल्लेख होना चाहिए और नहीं तो, यह पद 'इङ्गालकम्म' नैसर्गिक और कृत्रिम दोनों प्रकार के कोयले का व्यंजक होगा ।

'समराइच्च कहा' ग्रंथ की रचना सन् ७०७ से ७७५ के बीच हो चुकी थी । इस प्रकार यदि आठवीं शताब्दी के आस पास भारत में पत्थर के कोयले का उत्पादन और संदोहन पर्याप्त सुविकसित रहा हो, तो तनिक आश्चर्य की वात नहीं ।

अन्यच्च, जव हम भारतीय इतिहास के अन्य अकाट्य मूर्त आनुषंगिक तथ्यों के आकलन और विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं, तो उपर्युक्त मत को और भी अधिक समर्थन प्राप्त होता है ।

भारतीय वाङ्मय में प्राचीनकाल के विविध धातुओं के कारखानों के सुचारु वर्णनों से भी अप्रत्यक्ष रूप से यही ध्वनि निकलती है कि उनमें ईंधन के रूप में पत्थर के कोयले का प्रयोग होता रहा होगा। अन्यथा केवल लकड़ी या लकड़ी के कोयले या चारकोल से धातु ढालने की कला का वैसा परिष्कार और चरमोत्कर्ष संभव न हो पाता। गुप्तकाल का कीर्ति-केतन, मेहरौलीका लौहस्तंभ उस काल के धातु उद्योग का अन्यतम प्रतीक है। कदाचित् ऐसे उद्योगों में पत्थर के कोयले का ही व्यवहार होता रहा होगा। काँच की विविध वस्तुओं का निर्माण, उनके निमित्त वनी हुई भट्ठियों का परमोत्थान भी पत्थर के कोयले के उपयोग की बात की पुनरावृत्ति करता भास होता है।

नाना प्रकार की बड़ी भव्य और विशाल ईंटों के निर्माण की जो परम्परा ब्राह्मणकाल में यज्ञवेदियों (महावेदी, आह्वनीय, दक्षिणायणी, कंक-चिति आदि) के चयन के निमित्त आरम्भ होती है, उसकी विकास-प्रवृत्ति शुल्वसूत्रों से होती हुई अशोककाल, गुप्तकाल प्रभृति इतिहास के विभिन्न युगों में सतत अजस्र ही नहीं, अपितु ऊर्ध्वमुखी रही। बहुत उच्च-कोटि की ईंटों के भट्ठों में सम्भवतः पत्थर के कोयले का ही व्यवहार होता रहा होगा।

सब प्रकार से पूर्ण ऊहापोह के साथ विचार करने और तौलने से यही विश्वसनीय निष्कर्ष निकलता है कि अति प्राचीनकाल में ही कम-से-कम शतपथ ब्राह्मण की रचना के आस-पास देश में खनिज कोयले का पर्याप्त ज्ञान हो चुका था और उसके संदोहन तथा प्रयोग के क्षेत्र में बहुसंख्यक आविष्कारों और विकास-विधियों की सबल नींव पड़ चुकी थी। हो सकता है यह कार्य पंचनद (आधुनिक पंजाब); आर्यावर्त के पूर्व (आधुनिक विहार), किरातदेश (अर्वाचीन आसाम) तथा विन्ध्यक्षेत्र में सबसे पहले आरम्भ और विकसित हुआ हो।

औत्सर्गिक रूप से अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहासकारों का दल इस बात से प्रायेण पूर्णतया सहमत है कि रोमन-विजय से पूर्व अर्थात्

खीष्टाब्द के आरम्भ की कई शतियों पहले से ब्रिटेन के निवासी पत्थर के कोयले से परिचित थे तथा उसका बहुविध उपयोग करते थे। अर्थात् पत्थर के कोयले के निकालने और प्रयोग में कई पग आगे बढ़ चुके थे, तो भारत में तो सभ्यता और संस्कृति का अश्वत्थ आज से ५००० वर्ष पहले ही शाखा समृद्ध, पल्लवित, पुष्पित और फल-युक्त हो चुका था। इस प्रकार यदि यहाँ के निवासी शतपथ ब्राह्मणकाल—१००० वा २००० ई० पू० से ही कोयले के संदोहन की दिशा में पटुता प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो गये रहे हों, तो यह पर्याप्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

अतः यह मानने में कोई विशेष आपत्ति न होनी चाहिए कि देश में रत्नगर्भाभिजात अन्यतम ऊर्जस्वी और विश्वविश्रुत कोयला-वंश की नींव आज से तीन-चार सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य पड़ चुकी रही होगी। हो सकता है, उसका भाग्य-सूर्य उदयाद्रि और अस्ताचल के बीच कई बार भटकता तथा कभी क्षीण और कभी उद्दाम रश्मिलता अर्जित करता रहा हो क्योंकि—

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।

प्राचीन भारतीय खेलकूद और मनोरंजन

वंशी के मादक स्वर, वीणा की मधुर झंकार, रजत-पट के झिलमिलाते दृश्यों, रंगमंच के सजीव अभिनयों तथा प्रस्वेद-बिन्दु छलछला देने वाली एवं आवेश, उत्तेजना और स्फूर्ति भर देने वाले गेंद के खेलों में तो प्रायः सभी आत्मविभोर हो जाते हैं, परन्तु बहुत कम लोग इस बात पर सोच पाते हैं कि प्राचीन काल में हमारे पूर्वज भी इस प्रकार के कार्यों में इतना ही आनन्द और रस लेते थे। सभ्यता के इतिहास में खेल-कूद और मनोरंजन के साधनों एवं कार्यों का विकास बड़े अनूठे ढंग से हुआ है। हम आज यह जानते हैं कि ग्रामोफोन, आकाशवाणी (रेडियो), चलचित्र, दूरदृष्टि (टेलीविजन) का आविष्कार किसने किया था ? परन्तु हमें यह विदित नहीं कि वंशी का प्रथम निर्माता और वादक कौन था, वीणा के तारों को संजोकर प्रथम रागिनी किसने निकाली थी और गेंद का पहला आविष्कर्त्ता और खिलाड़ी कौन था ? फिर भी विभिन्न प्रकार के खेलकूद और मनोरंजन के अतीत और विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालने में हमें कम आनन्द न आयेगा। वैसे तो यह सिंहावलोकन समस्त विश्व को ध्यान में रख कर किया जा सकता है, किन्तु संप्रति इस विषय को भारतीय सीमारेखाओं में ही सीमित रक्खा जाएगा।

ऋग्वेदकाल

ऋग्वेदकाल में नाना प्रकार के मनोरंजन प्रचलित थे। वीणा का आविष्कार और प्रयोग आरम्भ हो चुका था। वंशी बजाने में भी लोग निपुण थे। उस समय विशिष्ट प्रकार की वंशियों को 'वाण' कहा जाता

था । किसी-न-किसी प्रकार नाटकों की भी नींव पड़ चुकी थी । द्यूतक्रीड़ा का तो कहना ही क्या ?

अन्य वेदों के काल में भी मनोरंजन के ये साधन निरन्तर प्रचलित थे । वाजपेय यज्ञ में रथों की दौड़ की परिपाटी भी आरम्भ हो गयी थी । घुड़दौड़ का भी चस्का लोगों को लग चुका था । अथर्ववेद में घुड़दौड़ के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें दी हुई हैं । ये वर्णन और विधियाँ आधुनिक डर्बी घुड़दौड़ (रेसकोर्स) से बहुत मिलती-जुलती हैं । घुड़दौड़ के लिए अर्धवृत्ताकार मार्ग अंकित किया जाता था और उसमें विजेताओं को पुरस्कार प्रदान करने की भी प्रथा थी । द्यूतक्रीड़ा की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी । बाँस के सहारे नाचने वालों और आज के से नटों का प्रचार आरम्भ हो चुका था । कंदुक क्रीड़ा से वैदिक आर्य परिचित थे या अपरिचित, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

परवर्ती काल में संगीत, वादन, नर्त्तन के अतिरिक्त विदूषकों, भाड़ों, प्रहसनों, रस्सी पर नाचने वालों तथा ऐन्द्रजालिकों का बोलबाला था । मुक्की और मल्ल-युद्ध इस अन्तरा में बड़े लोकप्रिय हो गये थे । रथों की दौड़ का प्रचार भी बढ़ रहा था । माली-कार्य और मालाग्रथन में भी बहुसंख्यक लोग बड़ी अभिरुचि रखते थे । कालिदास के समकालीन दिङ्नागाचार्य के 'कुन्दमाला' नाटक का नाम मालाग्रथन को ही लेकर रक्खा गया था ।

•

ईसा से पाँचवीं-छठीं शती पूर्व के 'दीघ-निकाय' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में घर में बैठकर और मैदान में बाहर खेले जाने वाले अठारह खेलों का वर्णन हैं :—

१. शतरंज—जो वर्गों में विभक्त पट्ट पर खेला जाता था ।

२. आकाश—यह आँखें बन्द कर खेले जाने वाले शतरंज की भाँति होता था ।

३. परिहार-पथ—यह एक प्रकार की दौड़ होती थी, जिसमें केवल कुछ

निर्दिष्ट स्थानों पर ही डग रखने पड़ते थे। यह खेल आधुनिक 'हॉपस्काच' का आदिम स्वरूप था।

४. संतिका—यह वस्तुओं और व्यक्तियों का एक प्रकार का राशि-चयन होता था। इस प्रकार के खेल आज भी इंगलैंड में प्रचलित हैं।

५. खलिका—कदाचित् द्यूत-क्रीड़ा का कोई विशेष प्रकार। भरहुत स्तूप के एक चित्र में इसके खेलने का दृश्य अंकित है।

६. घटिका—दो छड़ियों से खेला जाता था। यह अंग्रेजी खेल 'टिप-कैट' से मिलता-जुलता होता था।

७. शलाक-हस्त—लाख, अलक्तक वा पिसान से भरे जल में पहले हाथ डालते थे और उनसे भींगे हाथ का छापा किसी भित्ति पर मारते थे और तव उसे पहचाना जाता था कि वह किस वस्तु का चित्र था—हाथी, घोड़ा या अन्य किसी का।

८. अक्ख—कदाचित् पासा वा चौसर।

९. पंगचीर—पत्तियों के वने खिलौनों को फुलाना और तोड़ना।

१०. वंकक—खिलौने के आकार के वने हुए हलों से खेलना।

११. मोक्खचिका—कूड़ी वा फर्री कूदना।

१२. चिङ्गुलिक—ताल-पत्र की वनी हवा-चक्की से खेलना।

१३-१४-१५. विशिष्ट प्रकार के वने लघुशकटों तथा तारों आदि से खेलना।

१६. अक्खरिका—किसी साथी की पीठ पर हाथ घुमा कर लिखे वा संकेत से वायु में अंकित अक्षरों को पहचानना।

१७. साथियों के हृदय की वात के सम्बन्ध में अटकल लगाना। आज भी इस ढंग के खेल प्रचलित हैं।

१८. विकलांगता के प्रहसन—गुप्तकाल और उसकी परवर्त्ती शतियों में खेलो के लिए सार्वजनिक प्रवन्ध था, इसे समष्टिक्रीड़ा (पब्लिक-स्पोर्ट) कहते थे। इस काल में वंश (वांसुरी जैसा) वांसुरी (जिसे दर्दुर कहते थे) तथा प्रेक्षागृहों (थियेटरों) का प्रचलन वहुत वढ़ गया था।

तदनन्तर कई शताब्दियों तक इन खेलों के अतिरिक्त हिंडोले और झूले, पानगोष्ठियों, नर्म-गोष्ठियों (विलास-गोष्ठियों) एवं उद्यान-यात्राओं (पिकनिक) का वहुत वोलवाला रहा। इस समय उपवनों में लन्दन के हाइड-पार्क जैसे प्रणय-व्यापारों और दाम्पत्य-सुखोपभोग के दृश्य वहुधा दिखायी पड़ते थे।

कालक्रम से काष्ठ, कपड़े तथा हाथी-दाँत की वनी गुड़ियों का प्रचार बढ़ने लगा था। विवाहित तरुणियों में हिंडोले का प्रचलन उत्तरोत्तर वढ़ता जा रहा था। ऐसे झूले घर पर भी डाले जाते थे और रथ्याओं और सड़कों पर भी।

मुँह से फूक कर वजाये जाने वाले तथा तारों वाले वाद्य-यन्त्रों का प्रचलन वहुत वढ़ गया था। यत्रतत्र तुरही और वारहसिंहा भी वहुत लोकप्रिय था। मल्लयुद्ध भी वहुत विकसित हो गया था। कवूतर-वाजी तथा धारा-गृहों (फाउन्टेन चेम्बर) की क्रीड़ाओं में धनिकवर्ग तथा राजा आदि विशेष अभिरुचि लेने लगे थे। आजकल की भाँति कुछ लोगों को मछली मारने में भी वड़ा आनन्द आता था।

कनकौवा व गुड्डी उड़ाने की प्रथा भी भारत में अत्यन्त प्राचीन है। वहुत संभवतया गुड्डी का सर्वप्रथम आविष्कार २०००–३००० ई० पू० में हो चुका था। वैदिक-काल में एक विशेष प्रकार की वेदी को कंकचिति कहते थे। इसका आकार, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, कनकौवे का-सा होता था।

आगे के अनुच्छेदों में वंशी और गेंद के खेलों पर कुछ विशद प्रकाश डाला जा रहा है।

वंशी

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वंशी का प्रचलन वैदिक-काल में ही हो चुका था। वौद्ध और जैन-साहित्यों में भी वंशी का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। कृष्णभक्ति के विकास के साथ वंशीवादन में भारतीयों

की पटुता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी थी। महाभारत और श्रीमद्भागवत में इस परम लोकप्रिय वाद्य-यन्त्र की सहस्रों बार चर्चा आई है। कालिदास भी बांसुरी के बड़े आराधक और प्रशंसक थे। स्त्रियाँ भी वंशी और मुरली (जो ओठ के समानान्तर रखकर बजाई जाती है) बजाने में बड़ी निपुण होती थीं। भारतीय चित्रों में वंशिकावादन के परम मनोहारी दृश्य अंकित हैं। अजन्ता के कई भित्तिचित्रों में ऐसे नेत्रोत्सवकारी दृश्य दिखाये गये हैं। अजन्ता में महाजनक जातक की गाथा के चित्रांकन में लास्य-भरी तरुणियों को मुरली बजाते हुए बड़े ही मनोरम ढंग से दिखाया गया है।

कन्दुक

ईसा से सातवीं शती-पूर्व पाणिनी ने कन्दुक का स्पष्ट उल्लेख किया है। महाभारत में कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख है। भास ने 'स्वप्न-वासवदत्तम्' नाटक में लिखा है कि राजकुमारी पद्मावती का ललाट गेंद खेलने के कारण प्रस्वेद-बिन्दुओं से सिंच उठा था। बौद्ध-जैन वाङ्मयों, पुराणों तथा योग वाशिष्ठ में भी कन्दुक का परिनिर्देश है। कालिदास के रघुवंश और कुमार-सम्भव में भी कन्दुक-क्रीड़ा की बहुत बार चर्चा आयी है। कालिदास की कुमारिकायें तो गेंद खेलने की बड़ी प्रेमी होती थीं। संसार और संन्यास के बीच कई बार भटकने वाले भर्तृहरि ने भी कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख किया है। महाराज हर्ष के समय से लेकर हिन्दू राजवंशों के संध्या-काल तक राजकुमारियों, तरुणियों तथा बच्चों में गेंद खेलने का बहुत प्रचार था। भोज-प्रबंधकार वल्लाल सेन प्रणय-लुब्ध हृदय के गेंद से चोट खा-खा कर उठने-गिरने और लुढ़कने-पुढ़कने के सम्बन्ध में कहते हैं :—

विदितं ननु कन्दुकते हृदयं
तरुणीकरतामरसाभिहत्।
प्रमदाकरसङ्गमलुब्धमिव
पतितं पतितं पुनरुत्पतति॥

'महाराज आपका हृदय एकदम गेंद-सा हो गया है। जैसे—गेंद तरुणी के कोमल कर-कमलों से चोट खा-खा कर गिर-गिर कर उछलता और उठता है, ठीक वही दशा आपके प्रणयाहत किसी मोहिनी के सुखद कर-स्पर्श से सुधबुध खोये हृदय की भी हो गयी है।'

गेंद पौधों के गूदे वा हीर वा काष्ठ का वनाया जाता था। शिव और अन्य पुराणों के कई एक स्थल के वर्णनों से प्रतीत होता है कि भारतीय पुराण-काल में सम्भवतः रवर से भी परिचित हो चुके थे और उससे गेंद वनाये जाते थे, क्योंकि तभी गेंद का भली-भाँति उछलना सम्भव हो सकता है, जैसा वर्णन सभी साहित्य और साहित्येतर ग्रन्थों में पाया जाता है। गेंदों पर कभी-कभी चमड़े का आवरण भी चढ़ा होता था।

पोलो या चौगान

एकादश शताब्दी के आसपास भारत में पोलो वा चौगान का खेल भी बहुत प्रचलित था। 'मानसोल्लास' वा 'अभिलपितार्थचिन्तामणि' में इसका विशद वर्णन है। वड़े-वड़े राजा वा सामन्त काम्वोज घोड़े पर चढ़कर यह खेल खेलते थे। निश्चित दूरी पर आधुनिक ढंग के दो-दो गोल वने होते थे। खेलने की वल्ली वेंत की होती थी और वह मुड़ी होती थी तथा उस पर लाल चमड़ा चढ़ा होता था। गेंद लकड़ी का वना होता था और उस पर भी चमड़ा चढ़ा होता था। आजकल की ही भाँति सवसे अधिक गोल करने वाला दल विजयी माना जाता था।

●

कालिदास के प्रेमपत्र

कालिदास के काव्य ग्रंथ एवं नाट्यग्रंथों के अध्ययन में उनके रचना-
कौशल के विभिन्न पक्षों पर सदैव समीक्षात्मक प्रकाश डालने की चेष्टा होती
रही है और भविष्य में भी उनका विभिन्न दृष्टिकोणों से और अनुसन्धान-
पूर्ण अध्ययन होता रहेगा जैसा कि अपेक्षित भी है। उनको संस्कृत का
मूर्धन्य कवि और नाटककार मानने के अनेकानेक कारण हैं—उनमें उनकी
अनुपम रचना-प्रक्रिया (टेकनीक) का स्थान कला की दृष्टि से अत्यन्त
महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रस-निष्पत्ति तथा लोकोत्तरानन्द-विधान में वह कवि
की वैयक्तिक विशेषता है। उन्होंने अपने नाटकों में रस की धारा बहाने के
लिए कुछ विशिष्ट उपायों-उपकरणों का आश्रय लिया है। प्रेमपत्र-लेखन
तथा नाटकों में दूसरे नाटक के अभिनय (प्रेक्षणक—intermezzo) की
व्यवस्था उनकी उत्कृष्ट रचना-प्रक्रिया के अत्यन्त सफल दृष्टान्त हैं। उनके
पूर्ववर्ती नाटककार सौमिल्ल, कविपुत्र (जिनकी कृतियों के सम्बन्ध में अभी
तक विशेष सूचनाएँ नहीं प्राप्त हो सकी हैं) तथा भास में इन दोनों
पद्धतियों के कहीं दर्शन नहीं होते। कालिदास के परवर्ती प्रेमकथा को लेकर
चलने वाले शूद्रक, श्रीहर्ष, भवभूति आदि किसी भी नाटककार ने प्रथम
प्रक्रिया का प्रयोग नहीं किया है। हाँ, द्वितीय पद्धति का प्रयोग श्रीहर्ष ने
'प्रियदर्शिका' में अवश्य किया है।

पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचकों में जैसी परिपाटी-सी है, कालिदास
की तुलना बहुधा शेक्सपीयर से की जाती है। यह बड़ी विलक्षण और
रोचक बात है कि इस सम्बन्ध में भी दोनों शीर्षस्थ नाटककारों में पूर्ण
साम्य पाया जाता है। शेक्सपीयर ने भी प्रेमपत्र लेखन तथा नाटक के भीतर
नाटक के आयोजन के माध्यम का प्रयोग किया है। उनके 'टू. जेन्टल मैन
ऑव वेरोना', 'मेरी वाइव्ज ऑव विण्डसर' तथा 'ऐज यू लाइक इट' प्रभृति

कई नाटकों में प्रेमपत्र-लेखन का बड़ा हृदयहारी प्रयोग किया गया है। उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'हेमलेट' में तो इन दोनों रचना-प्रक्रियाओं के एक-साथ अपूर्व दर्शन होते हैं।

कालिदास ने प्रेमपत्र-लेखन की पद्धति का प्रयोग 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' में किया है। नाटक के भीतर नाटक के अभिनय की व्यवस्था 'मालविकाग्निमित्र' की विशेषता है।

प्रेम की मर्म-वेदना से शकुन्तला नितान्त कातर और असहाय सी है। उसे अपने प्रणय की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ रहा है। ऐसे समय उसकी बुद्धिमती सखी प्रियंवदा अनसूया से परामर्श कर उससे प्रेमपत्र लिखवाने को सोचती है और शकुन्तला सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है। लिखने के लिए भोजपत्र तथा मसि और मसिदानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रियंवदा सिखाती है—'ईमस्सि सुओदर सुअमारे णालिणीपत्ते ण्हिंहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि'—सुग्गेकी छाती के समान कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर अपने नखों से ही लिख डालो। शकुन्तला काव्यात्मक रूप में लिख डालती है—

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिववि रत्तिम्मि
णिग्घिण तवइ वलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइँ अंगाइँ ॥३.१४॥
"हे निर्दय मैं नहीं जानती तेरे मन की माया।
पर तेरे ही प्रेम-पाश में पड़कर यह फल पाया।
कामदेव दिन रात तपाता मेरी कोमल काया॥"

इसी बीच एक नाटकीय परिवर्तन के साथ, जैसे ही शकुन्तला पत्र को जोर से पढ़कर सुनाती है। पत्रोत्तर साकार होकर दुष्यन्त के रूप में उसके सम्मुख आ जाता है।

यद्यपि 'शकुन्तला' कालिदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है, परन्तु 'विक्रमोर्वशीय' में प्रेमपत्र-लेखन की प्रक्रिया का स्वरूप एकदम निखर-सा गया है और वह बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। विदूषक की उपस्थिति तथा पत्र को खो देने के सम्बन्ध में उसकी कार्यवाहियों ने तो इसमें चार चाँद लगा दिये

हैं। कथानक को आगे बढ़ाने में, उसे अतिशय रोचक बनाने में तथा हास्य का मोहक पुट देने में उर्वशी के पत्र ने, जब कि उसे ढूँढ़ा जाता है और वह पुरुरवा की रानी द्वारा पकड़ लिया जाता है और उस पर विदूषक अत्यन्त मनोरम ढंग से ताने कसता है, बड़ा काम किया है। यह दृश्य पांठकों और दर्शकों को शेक्सपीयर की रोजालिण्ड और आरलेण्डो की वन के बीच की प्रेमचर्चा की स्मृति दिलाता है।

तिरस्करिणी-प्रच्छन्न उर्वशी राजा पुरुरवा के प्रेम-पीड़ा से भरे हुए विदूषक के साथ संलाप को सुनकर अपनी एतादृश प्रणयाकुलता को एक भोजपत्र पर लिखकर राजा के सम्मुख फेंक देती है। वह बाँचता है—

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अणुमिआ
तह अणुरत्तस्य जइ णाम तुह उवरि।
किं मे ललिअ-पारिजाअअसणिज्जयम्मि होन्ति
णंदणवणवादा वि अच्चुण्हआ सरीरए ॥२.१२॥

"महाराज! आप मेरे मन की वात क्या जानें? यदि आप मुझसे इतना प्रेम करने पर भी मुझे वैसी समझते हैं जैसी आप अभी वता रहे थे, तव यह तो वताइए कि जव मैं कोमल पारिजात के फूलों की सेज पर जाकर लेटती हूँ, उस समय नन्दन-वन का शीतल पवन मेरे शरीर को जलाने क्यों लगता है?"

तदनन्तर पत्र के खोने और राजा की चोरी के पकड़े जाने की घटनाएँ घटती हैं।

पत्र संवेदना और समवेदना-विहीन संदेशवाहक होता है। किन्तु मित्र अत्यन्त सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति होता है, उससे अपनी मनोव्यथाओं को कहकर हृदय को कुछ सान्त्वना मिलती है, साथ ही वह प्रेम की पीर, उत्कण्ठा और सुधियों को प्रेमिका तक पहुँचाने वाला बड़ा ही सुन्दर माध्यम होता है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में ऐसे मित्र वा सन्देशवाहक का माध्यम वा सहारा नहीं लिया जा सकता अथवा नहीं मिल पाता। उस दशा में पत्र ही सबसे अधिक उपयोगी और सहायक हो पाता है। प्रतिभा के

विकास की ऊर्ध्वमुखी परम्परा में—साधना-पथ की सफलता के सोपान में विक्रमोर्वशीय, मेघदूत तथा शकुन्तला सर्वोपरि स्थित हैं।

तीनों ही प्रेम के स्वरूप को लेकर चलते हुए सामान्य स्तर से उदात्तता की ओर बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। तीनों ही काव्यों में प्रेमपत्र की आवश्यकता प्रतीत हुई और थी, दो में प्रेम-पाती का आदान-प्रदान सरल था, अतएव उनमें प्रेमपत्र स्पष्ट लिखे गये। किन्तु रामगिरि से हिमालय तक की प्रतीकात्मक दूरी पर उस पुराने समय में पत्र भेजना नितान्त दुष्कर था, सामान्य वर्ग के लिए सन्देशवाहक मिलना भी कठिन था, फिर कवि तो प्रकृति के उपादानों से भी बड़ी सरलता और आत्मीयतापूर्वक काम चला लेता है। इसलिए मेघ से सन्देश भेजा गया। मेघदूत पत्र का स्वर स्थानापन्न मात्र था। फिर यह भी माना ही जाता है कि मेघदूत का स्वर-सन्धानकर्त्ता स्वयं भी अपनी प्रियतमा की विरह-व्यथा से पीड़ित रहा था। अतएव प्रेमपत्र-लेखन उसके भाव-प्रकाशन की अपनी अत्यन्त मधुर प्रिय शैली रही होगी और उसमें उसे विशेष आनन्द आता रहा होगा, यह सर्वथा स्वाभाविक है। एक प्रकार से देखा जाय तो मेघदूत प्रेमपत्र-प्रेषण के मनोहारी विकास का ही एक स्वरूप है। विक्र-मोर्वशीय और शकुन्तला के प्रेमपत्र इत्तिवृत्तक्रमानुरूप बीज मात्र थे, मेघदूत उन्हीं भावनाओं का पल्लवित और उत्फुल्ल तरु-प्रतान है।

उपर्युक्त रचना-प्रक्रिया के मूल में नाटककार की मनोविश्लेपणात्मक आधारभूमि के अध्ययन से कई बातें विदित होती हैं। पहली बात यह है कि पुरुप और स्त्री की प्रणय-भावनाओं तथा वेदनाओं का स्वरूप और गहराई चाहे जो कुछ भी हो, उनमें रमणी की ही प्रेम की पीर ऐसी उद्वेलनकारी हो जाती है कि वही प्रेमाभिव्यंजन का वाह्य रूप से सूत्रारम्भ करती है, यद्यपि भारतीय संस्कृति में अन्य स्थानों पर स्त्री को ही अत्यधिक लज्जाशील और प्रणय को छिपाने वाली चित्रित किया गया है। परन्तु 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशीय' दोनों में ही प्रेमिकाओं ने ही प्रेमपत्र लिखे है। 'कुमार-सम्भव' का पंचमसर्ग 'पार्वती-तपस्या' कवि की इसी मनोवृत्ति की परिचायक है। यहाँ भी यद्यपि कन्दर्प-विनाशन शिव अन्ततोगत्वा—

'अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज;
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥'[1]

कहकर पार्वती का क्रीतदास होना स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु 'प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता' के सिद्धान्त पर उमा ही पहले प्रेम प्रकाशन के और उग्रतर मार्ग का अवलम्बन करती हैं। परन्तु प्रेमप्राप्ति के लिए प्रेमसाधना के ये सभी नियताप्ति (डिनाओमेंट) के उपाय पुरुष के ऊपर नारीत्व की ही शाश्वत विजय को घोषित करते हैं .जो केवल भारतीय संस्कृति का ही नहीं प्रत्युत् समस्त मानव-जाति के साहित्य, कला और संस्कृति का सार्वभौम सिद्धान्त है। कालिदास की यही सफलता है—वे अपने युग से बहुत आगे थे अथवा वे सार्वभौम और सर्वकालिक हैं।

●

---

१. शंकर भगवान् ने कहा—"हे स्त्रीसुलभ शीलचारुता से झुके हुए अंगोंवाली ! आज से मैं तुम्हारे तप द्वारा खरीद लिया गया। मैं तुम्हारा क्रीतदास हो गया। इतना सुनते ही पार्वती का तपस्या में सहा हुआ सारा कष्ट एकदम विलीन हो गया। सफलता प्राप्त हो जाने पर सारा कष्ट दूर हो ही जाता है, सारा कष्ट एकदम भूल जाता है तथा शरीर और मन में सर्वथा नया टटकापन आ जाता है।"

अभी-अभी कुछ समय पूर्व प्रस्तुत लेखक को ऐसे अभि-लेखात्मक प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कालिदास ने अपने वैयक्तिक जीवन में भी बहुसंख्यक प्रेम-पत्र लिखे थे। एक वार इन्होंने प्रेम-पीड़ा में एक छन्द की दो पंक्तियाँ अपनी प्रेमिका के पास लिख भेजीं। प्रणयलुब्ध प्रेमिका ने दो पंक्तियाँ और लिख कर छंद पूरा कर इनके पास भिजवा दीं।

प्राचीन भारतीय महिला वैज्ञानिक

वास्तविक ऐतिहासिक महिला वैज्ञानिकों के जीवन-वृत्त और कृतित्व पर विचार करने के प्रथम इस वात पर किंचित् प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत होता है कि देश में महिला वैज्ञानिकों की कोई धर्मपरक परम्परा की भावना थी या नहीं और यदि थी तो उसका प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ ?

विविध प्राचीन उपाख्यानों तथा इतिवृत्तों से ऐसा भास होता है कि महिला वैज्ञानिकों की उक्त परम्परा का श्रीगणेश सर्वप्रथम शंकर वा महेश्वर की शक्ति महेशानी वा उमा से हुआ था। विविध विद्याओं, कलाओं, संगीत, नृत्य आदि में महेशानी का अर्धाङ्गिनी के रूप में शंकर के साथ कितना सहयोग वा भाग है, इस सम्बन्ध में पुराकाल के ऐतिह्य कोई विशद वर्णन वा सूचना नहीं प्रस्तुत करते। किन्तु ऐसे बहुत-से पुराख्यान और ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो यह दिखाते हैं कि महेशानी वा पार्वती वैज्ञानिक चेतना, जिज्ञासा, प्रेरणा और ज्ञान के विकास के क्षेत्र में नाना प्रकार से अपने पति के साथ पूर्ण सहयोग करती आयी हैं और विज्ञान को लोकप्रिय बनाने तथा उसके प्रसार में उनका पर्याप्त हाथ रहा है। प्राचीन भारत के कई वैज्ञानिक ग्रंथ कथोपकथन की शैली में—उमामहेश्वर संवाद-रूप में लिखे हुए मिलते हैं। इन्हीं ग्रन्थों से यह भी द्योतित होता है कि उमा ज्योतिष, गणित, भूगोल तथा भौतिक-विज्ञान में पारंगत थीं। दृष्टान्त स्वरूप यहाँ ऐसे केवल एक ग्रन्थ का उल्लेख अलं होगा। यह ग्रंथ मेघ-माला' है। इसे रुद्रयामल तन्त्र के अन्तर्गत माना जाता है। इसमें भूगोल, जलवायु-विज्ञान तथा ऋतुभौतिकी का प्राचीन शैली में अच्छा विवेचन है। यह उमा-महेश्वर के कथोपकथन के रूप में लिखा हुआ है। सम्भव-

तथा उसका प्रणयन नवीं शताब्दी में हुआ था। यह तो हुई धर्मपरक परम्परा की बात।

ऐतिहासिक महिला वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम नाम आता है गार्गी वाचक्नवी का। यह औपनिषदिक काल (१००० वा ८०० ई० पू०) की अद्भुत् प्रतिभाशालिनी महिला थी। वह सौंदर्य में भी अनुपम कही गयी है। इसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यह ज्योतिष तथा विज्ञान में तो परम विदुषी थी ही, दर्शन में भी इसका पाण्डित्य अगाध था। तरुणाई में ही इसे ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अपूर्व दक्षता प्राप्त हो चुकी थी। यह शास्त्रार्थ की कला में भी पूर्ण निष्णात थी। अपनी यौवनावस्था में ही इसने एक बार परम अनुभवी, अनन्य विद्वान् और महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ में प्रवल होड़ ली थी।

महाराज जनक द्वारा आयोजित एक वृहत् पुरस्कार के लिए चलनेवाले शास्त्रार्थ में सभी ऋषि-महर्षियों तथा विद्वानों को याज्ञवल्क्य से भयंकर रूप से परास्त होते देखकर वह मंचपर अकस्मात् अवतीर्ण होती है और शास्त्रार्थ आरम्भ करती है। उसके शास्त्रार्थ का प्रमुख विषय था देश, काल, अन्तरिक्ष, आकाश तरङ्गों आदि के स्वाभाविक गुणधर्म का विवेचन, जिनको लेकर आइन्स्टाइन का आधुनिक सापेक्षवाद आरम्भ और विकसित होता है, जिन पर मेंकोवस्की, सर जेम्सजीन्स, सर आर्थर एडिंगटन, कोजीरेव प्रभृति लब्धकीर्ति भौतिक शास्त्रियों ने प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

वह याज्ञवल्क्य से पूछती है—सभी वस्तुएँ तत्त्वों की वनी हैं। महर्षि ! क्या आप वता सकते हैं कि सभी तत्त्व किससे व्याप्त हैं ?

याज्ञवल्क्य—आकाश तरंगों (आधुनिक ईथर) से।

वह फिर आगे पूछती है—महर्षे ! वह कौन-सी वस्तु है, जो आकाश के परे है, पृथ्वी के नीचे है ? साथ ही आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में भी व्याप्त है—भूत-भविष्य, वर्तमान, त्रिकाल को भी व्याप्त किये हुए है—त्रिकाल स्वरूप मात्र है।

याज्ञवल्क्य—वह है देश (स्पेस), आकाश तरंगें (ईथर)—वह त्रिकालापूरित वा त्रिकालमय है।

इस उत्तर से तब कहीं जाकर गार्गी को सन्तोष हुआ। यहाँ आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद में वर्णित देश-काल की अविच्छिन्नता वा सन्ततता (कॉन्टीनुअम) की ओर स्पष्ट परिनिर्देश है। इस प्रश्नोत्तर में जेम्स जीन्स का वह सिद्धान्त भी निहित दीखता है जिसके अनुसार सारे भौतिक पदार्थों को 'बोतल में बन्द' 'घनीभूत तरङ्गों' (बॉटल्ड वेव) तथा प्रकाश वा विविध प्रकार की ऊर्जाओं वा विकिरण की 'उन्मुक्त तरङ्गों' (अनबॉटल्ड वेव्ज) की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

गार्गी के अभ्युदय के शतियों पश्चात्, पाँचवीं शती के पर्यवसान काल अथवा छठीं शती के आरम्भ में खना अवतीर्ण हुई। यह तो विदित नहीं कि इसका जन्म कहाँ हुआ था, किन्तु इसका विवाह अवन्तिदेश या उत्तरप्रदेश के कान्यकुब्ज नगर में हुआ था। इसके पति व्रात्य ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे। वे कदाचित् सुप्रथित ज्योतिषी, भूगोलवेत्ता तथा नृतत्वविद् वराहमिहिर के पुत्र थे।

खना के सम्बन्ध में बड़ी विचित्र कथा वा अनुश्रुति प्रचलित है। कहा जाता है कि खना और उसके पति दोनों अनार्यों के पास ज्योतिर्विद्या सीखने गये। खना अपने पति मिहिर की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशालिनी थी। मिहिर ज्योतिर्विद्या की विविध शाखाओं में अपनी पत्नी इतना पाटव नहीं प्राप्त कर पाये। पाठ्यक्रम समाप्त होने पर जब दोनों स्वदेश लौटने लगे तो उनके अनार्य गुरु उन्हें पहुँचाने चले। मार्ग में गुरु ने मिहिर की परीक्षा ली, किन्तु उसमें उन्हें कच्चा पाया। इस पर उन्होंने मिहिर को सम्बद्ध विषय की पुस्तकें दीं।

खना के पति मिहिर ने अपने गुरु के हाथ से पुस्तकें ले तो लीं, किन्तु उनके हृदय में विषाद और ग्लानि का ज्वार आ रहा था। वे बार-बार यही सोच रहे थे कि जब इतने काल के अध्ययन से मैं ज्योतिर्विद्या में निष्णातता (पटुता) न प्राप्त कर सका तो पुस्तकों से भला क्या लाभ होगा।

अन्त में पुस्तकों को सर्वथा वृथा समझकर उन्होंने समुद्र में फेंक दिया। थोड़ी ही दूरपर खना भी खड़ी थी। वह पीछे मुड़ कर अपने गुरु के निवास स्थान की ओर देख रही थी। किन्तु उसने अपने पति को उक्त पुस्तक को समुद्र में फेंकते देख लिया। उसने आश्चर्य किन्तु नम्रता भरे शब्दों में पूछा—यह क्या किया? कहते हैं कि उक्त पुस्तक में भूगर्भ विद्या की अनेक रहस्यमय बातें थीं। उनके नष्ट होने के साथ भारत से भूगर्भ विद्या का भी करुण लोप हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि खना ज्योतिष तथा गणित के अतिरिक्त भौतिक विज्ञान तथा भूगर्भ विद्या (जिआलोजी) की भी पण्डित थीं। कुछ अन्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि वह भूगोल, जल-वायु विज्ञान तथा ऋतुभौतिकी (मेटाआरालॉजी) की पारङ्गत थी।

लीलावती नाम से तो प्रायः सभी लोग परिचित हैं। यह बारहवीं शताब्दी में हुई थी। अतुल यशस्वी ज्योतिष-सम्राट् सिद्धान्तशिरोमणि के रचयिता भास्कराचार्य इसी के पति थे। भास्कराचार्य सह्याद्रि पर्वत के समीप विज्जल वीर में उत्पन्न हुए थे। लीलावती के श्वशुर तथा भास्करा-चार्य के पिता का नाम महेश्वराचार्य कवीश्वर था।

लीलावती बहुत ही सहृदय, उदार, चरित्रवती, शान्त प्रकृति की सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्री-सुलभसर्वगुणसम्पन्न महिला थी। बाल्यावस्था में उसने व्याकरण और संस्कृतसाहित्य का अध्ययन किया था। परन्तु ज्योतिष से भी उसे अगाध प्रेम था। विवाह के अनन्तर उसने पति के साहचर्य और सहायता से ज्योतिष में पूर्ण विचक्षणता प्राप्त कर ली थी। जब कभी भास्कराचार्य ग्रहादिकों के सम्बन्ध में कोई गणना करते होते तो वह उनके पास में होती और विविध प्रकार की गणना, प्रयोग और परामर्श द्वारा उनकी सहायता करती। जब भास्कराचार्य उसे गणित या खगोल की कोई समस्या देते तो वह देखते-देखते उनका उत्तर संस्कृत पदों में देती। जब लीलावती गणित या खगोल के क्षेत्र में स्वयं कोई मौलिक कार्य करती होती, तो भास्कराचार्य भी आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करते।

कहा जाता है कि लीलावती ने गणित विषयक एक मौलिक ग्रन्थ

का प्रणयन भी किया था और उसका नाम भी 'लीलावती' रखा था। आज भी उत्कृष्ट लीलावती ग्रन्थ विद्यमान है। कुछ लोगों का मत है कि भास्कराचार्य ने स्वयं 'लीलावती' ग्रन्थ की रचना की थी और अपने अनुपम प्रणय की स्मृति को शाश्वत बनाने के लिए उसका नाम लीलावती रखा था। कुछ भी हो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि लीलावती ज्योतिष तथा गणित की विविध शाखाओं की पूर्ण मर्मज्ञ थी। 'लीलावती' यद्यपि गणित ग्रन्थ है, किन्तु उसकी शैली बड़ी रसस्निग्ध है। इसमें ग्रन्थकार ने सर्वत्र, प्रश्नों एवं समस्याओं में भी एक अनिन्द्य यौवना परम लावण्यवती रमणी को सम्बोधित किया है।

दक्षिणदेशवासिनी ब्राह्मण कन्या अभयार ने भी विज्ञान के क्षेत्र में बहुत श्लाघनीय कार्य किये थे। यह लीलावती के पश्चात् हुई थी। इसके पिता का नाम भगवान् था। यह कैसी अद्वितीय विदुषी थी, इस बात का अनुमान लगाने के लिए केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि जन-साधारण इसे सरस्वती की पुत्री कहा करते थे। अभयार के भाई तथा बहिनें भी थीं। वे सभी साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़े यशस्वी हुए हैं। सभी भाइयों ने काव्य-रचना के क्षेत्र में विशिष्ट प्रतिभा दिखाई थी और बहिनें भी किसी प्रकार कम न थीं। भाइयों के अतिरिक्त सभी बहिनें भी ज्योतिष, विज्ञान, आयुर्वेद तथा भूगोल आदि शास्त्रों में उत्कृष्ट कोटि की विदुषियाँ थीं। वे केवल फक्किका घोंटने वाले साधारण विद्वान् नहीं थे, उन्होंने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में मौलिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है।

अभयार ने विवाह नहीं किया था। वह आजीवन ब्रह्मचारिणी रही। अभयार की एक बहिन का नाम उपाग्रा था। उसने नीलिमा पटल नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

औत्सर्गिक रूप में कामसूत्र में स्त्रियों के लिए रसायनशास्त्र, खनिज-विज्ञान, खानिकार्य, धातुवस्तुनिर्माण (metallurgy), गणित, सैन्य-विज्ञान, व्यायामशास्त्र आदि के पढ़ने के लिए विधान है।

ऋग्वेद में खेल ऋषि की पत्नी विश्पला और एक और महिला मुद्गलानी को सैन्यविज्ञान-विशेषज्ञ वतलाया गया है। मुद्गलानी ने तो अपने वलवूते से एक वड़े संग्राम में विजय प्राप्त की थी। परवर्ती-काल में भी यह परम्परा चलती रही। प्राचीन भारत के इतिहास में सैन्य अभियानों में स्त्रियों के नायकत्व के वहुत से दृष्टान्त उपलब्ध हैं। दक्षिणापथ भी इसमें कभी तनिक पीछे न रहा। दसवीं शती के वाद भी ऐसी अनेक वीरांगनाएँ उत्पन्न होती गईं।

प्राचीन चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में भी महिलाओं ने पर्याप्त योगदान किया था। अरवी भाषा में रूसा नाम की एक भारतीय चिकित्सिका का वड़ा सुन्दर उल्लेख है। उसने धात्रीकर्म (Gynaecology, Obstetrics, Paediatrics) पर बड़ा अपूर्व ग्रन्थ लिखा था। अरववाले उस ग्रंथ पर इतना मुग्ध हुए थे कि आठवीं शती में उसका अनुवाद करवा डाला था।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतवर्ष ने केवल वाङ्मय-विधात्री साहित्य-सेवी महिलाएँ ही नहीं उत्पन्न की थीं, अपितु उसके विशाल प्रांगण में वैज्ञानिक रमणी-रत्नों का भी प्रादुर्भाव हुआ था, जिनकी यशस्विता से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तथा यवन, देश से आरम्भ कर कामरूप (आसाम) तक का दिगन्त समुद्भासित हो उठा था। आज भी उनकी कीर्ति-पताका सभी दर्शकों का मन मोह रही है।

भारत की प्राचीनतम बहुमुखी योजनाएँ

अमेरिका की टिनेसी वैली अथारिटी, रूस की नीप्रोजेज़ तथा नीप्रो-पेट्रोवस्क योजनाओं तथा दामोदर वैली कारपोरेशन की लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, किन्तु इन सबसे आश्चर्यंकर, आकर्षक और नवप्रेरणा-स्फूर्त यह बात है कि भारत में अति प्राचीनकाल से निःसंदिग्ध रूप से अपनी सारी रूपरेखा, निर्माण और उद्देश्य में सर्वथा अर्वाचीन युग जैसी सफल बहुमुखी योजनाओं का प्रचलन था। यह कथन केवल "पौरस्त्य अतिशयोक्ति" नहीं है, प्रत्युत देश के इतिहासग्रन्थों तथा प्राचीन शिलालेखों में इसके अनेक अकाटच साक्ष्य विद्यमान हैं। बहुसंख्यक तत्कालीन आनुषंगिक तथ्य भी इस बात का पूर्णरूपेण प्रतिपादन करते हैं।

कदाचित् भारत की सबसे पहली बहुमुखी योजना चतुर्थ शती खीष्टाब्द-पूर्व चन्द्रगुप्त के वैश्य राज्यपाल पुष्यगुप्त द्वारा कार्यान्वित की गई थी। इसमें आधुनिक गुजरात के गिरिनगर नामक स्थान के समीप रैवतक पर्वत की घाटी का उपयोग किया गया था और एक बाँध बनाकर एक विशाल जलागार निर्मित किया गया था। कालान्तर में अशोक के राजत्वकाल में उसके यवन राज्यपाल तुशष्प ने सिंचाई आदि कार्यों के लिए इस जलागार से बहुसंख्यक नहरें बनवाई थीं। इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इससे जनवर्ग लगभग एक सहस्र वर्ष या उससे भी अधिक काल तक लाभ उठाता रहा। सिंचाई और अन्य नाना प्रकार के कार्य संपादित किये जाते रहे। मौर्यराजत्वकाल में निर्मित उपर्युक्त वस्तुएँ चार सौ वर्ष से भी अधिक समय तक चलती रहीं; किन्तु दिसम्बर, १५० ई० में ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि उससे सब बाँध छिन्नभिन्न हो गया और जलागार

एक अत्यन्त विस्तीर्ण मरुस्थल में रूपान्तरित हो गया। पश्चिमी क्षत्रपों के पहलव राज्यपाल सुविशाख ने तुरन्त उसे पुनः बनवाया। अगस्त ४५५ ई० तक इस बाँध से बड़े सुचारु रूप से कार्य होता रहा, किन्तु वह अकस्मात् अतिशय वृष्टि के कारण पुनः बह गया। इस दैवी विपत्ति के कुछ ही मास पश्चात् गुप्तों के राज्यपाल पर्णदत्त ने पुराने बाँध के स्थान पर नवीन बाँध निर्मित करा दिया। संभवतः नवीन बाँध कम से कम दो शताब्दियों तक चलता रहा।

रैवतक बाँध द्वारा जो कृत्रिम जलागार तैयार हुआ था, उसकी भुजाएँ लगभग एक मील लंबी थीं। उसके दो विन्दुओं के बीच की अधिकतम दूरी लगभग ३००० गज थी। इस स्थान के निकट दो शिला-लेख अब भी विद्यमान हैं, जो इस समग्र इतिवृत्ति के जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

भारत की पहली परिनिष्ठित बहुमुखी योजना

बहुमुखी योजनाओं के भारत के ही नहीं, अपितु समस्त संसार के इतिहास में काश्मीरी मयशास्त्री सूय्य का नाम अप्रतिम चिरंतन कीर्ति से सदैव समुद्भासित रहेगा। इस अनुपम प्रतिभाशाली मयशास्त्री ने सर्व-प्रथम एक ऐसी भीमकाय बहुमुखी योजना बनाई और उसे कार्यान्वित किया जिसे वस्तुतः पूर्णरूपेण आधुनिक अर्थ में बिना किसी हिचकिचाहट के संसार की, या कम से कम भारत की, सबसे पहली बहुमुखी योजना कहा जा सकता है। वह सुप्रथित सम्राट् अवन्तिवर्मन् का राजकीय मयशास्त्री था। अवन्तिवर्मन् काश्मीर के प्रमुख राजाओं में परिगणित किया जाता है। वह ८५५ से ८८३ ई० तक शासन करता रहा।

परम मनोहारी काश्मीर उपत्यका में बहुत प्राचीनकाल से भयानक बाढ़ों से अपार क्षति होती थी और उससे ऐसे दुर्भिक्ष पड़ते थे कि प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगती थी। उससे खेती तो मटियामेट हो ही जाती थी, साथ ही बहुसंख्यक गाँव और बस्तियाँ एकदम उजड़ जाती थीं और

अन्य आर्थिक क्रियाकलापों को भी गहरा धक्का पहुँचता था। सम्राट् अवन्तिवर्मन् ने इस समस्या को सदा के लिए सुलझाने का दृढ़ संकल्प किया और उसका कार्यभार अपने सुयोग्य मयशास्त्री सूय्य को सौंपा।

वरामूला के समीप झेलम नदी एक बड़ी ही संकीर्ण दरी (गार्ज) बनाती है। इस स्थान के नीचे भूमि की बनावट ऐसी है कि उससे काश्मीर घाटी की जल-परिवाह की व्यवस्था के भारी मार्गावरोध उत्पन्न हो जाता है। यह बात खडन्यार नामक स्थान के समीप दृष्टिगोचर होती है। सूय्य ने बड़े ऊहापोह के साथ विचार करके देखा कि समीपस्थ भूभाग के जल-परिवाह और जलप्रकृति के दृष्टिकोण से नदी का यह भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः उसने सर्वप्रथम वरामूला के नीचे संकोर्ण दरी (गार्ज) में ही नदी को नियंत्रित करने का निश्चय किया। उसने कामराज (आधुनिक कामरस) तथा यक्षाद्वार (आधुनिक द्यार्गल) के समीप नदीतल्प (वेड) को साफ कराया और वहाँ एक प्रस्तर-बाँध बना कर जल-प्रवाह को सात दिन रोके रखा, नदी के और निचले भाग में उसने प्रवाह-तल्प को और गहरा किया तथा नदी के दोनों किनारों पर सुरक्षा-भित्तियों का निर्माण किया जिससे विशाल शिलाखंड पर्वत-ढालों से ढुलक-ढुलक कर प्रवाह-मार्ग में व्यवधान न उत्पन्न कर सकें। तत्पश्चात् निरोधक बाँध (काफर डैम) तोड़ दिया गया और जल ढाल का अनुसरण करते हुए बड़े वेग से बहने लगा।

किन्तु सूय्य का सबसे महत्त्वपूर्ण और चिरस्मरणीय कार्य यह था कि उसने झेलम नदी का समस्त प्रवाह ही बदल दिया था। इसके परिणाम-स्वरूप नदी के बाएँ किनारे की श्रीनगर से उलर झील तक की नीची दलदली भूमि उर्वर हरेभरे खेतों में बदल गई जिससे प्रान्त का एक बहुत बड़ा भूखण्ड कृषि-कार्यों के लिए पूर्ण उपयुक्त हो गया जो पहले निरर्थक पड़ा हुआ था अथवा विध्वंसलीला का केन्द्र था।

झेलम नदी के प्रवाह के इस परिवर्तन से दूसरी बात यह हुई कि उसके और [illegible] के संगम की [illegible] में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया।

दोनों नदियों को नियंत्रित करने में सूय्य ने झेलम पर पत्थर की ४२ मील लम्बी अवरोध-भित्ति (इम्बैंकमैण्ट) बनाई थी। गाँवों और खेतों की रक्षा के लिए उसने बहुसंख्यक वर्तुल बाँध (डाइक्स) भी बनाए थे। इस प्रकार, उसने अपनी योजना द्वारा बाढ़ का नियंत्रण किया, परती पड़े हुए विशाल भूभाग को खेती के योग्य बनाया, सिंचाई की व्यवस्था की, कृषि-कार्य में और भी विविध सुधार किये तथा कृषि का उत्पादन बढ़ाया। साथ ही मछली मारने के कार्यों में भी अत्यधिक सहायता पहुँचाई और आमोद-प्रमोद के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास किया। आधुनिक बहुमुखी योजनाओं से उपर्युक्त व्यवस्था की तुलना कर सूय्य के कार्यों की महत्ता और उपादेयता का स्वयं भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आपाततः एक और बात का स्मरण आ रहा है कि प्राचीन भारतीय नीदरलैण्ड्स तथा बेलजियम ढंग के डाइक्स बनाना ख्रीष्टाब्द की तीसरी-चौथी शती से ही जानते थे। लंका के बौद्ध-ग्रन्थ दीप-वंश में इसका स्पष्ट परिनिर्देश आया है—वण्णक–२०।३५)। पाली शब्द 'वण्णक' डाइक्स का ही पर्याय है।

काश्मीर के संस्कृत इतिहासकार कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में सूय्य के महान् कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सुप्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता एम० ए० स्टाइन ने भी सूय्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए कहा है, "उसकी योजना के कार्यान्वित होने से कृषि-कार्य अत्यन्त सुकर हो गया, जिससे चावल के भाव में भारी कमी हो गई। एक खारी (खरवार=१७७ पौण्ड्स) चावल का मूल्य २०० दीनार से घटकर ३६ दीनार हो गया।"

दक्षिण के बाँध

इतिहास से यह भी विदित होता है कि गोधरा ग्राम के समीप (गुजरात के पाटन नामक स्थान के १८ मील दक्षिण) कर्ण सोलंकी (१०६३-१०९४) ने भी कपेन पर एक विशाल बाँध बनवाया था। उसने इसका

नाम कर्णसागर रखा था, जैसे दक्षिण में आधुनिक रामपद सागर है। यह बाँध लगभग ७५० वर्ष तक चलता रहा, १८१४ ई० में जाकर ध्वस्त हो
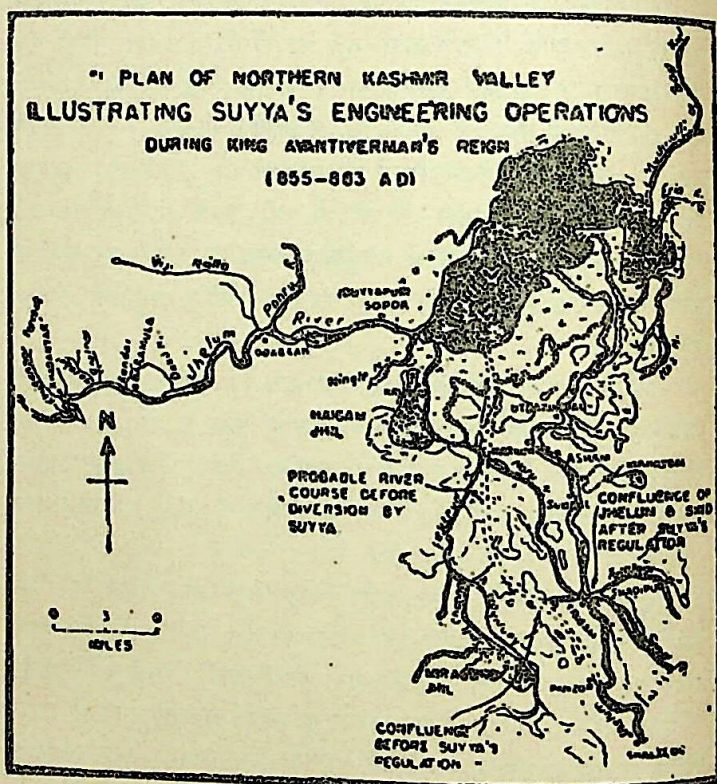
सूय्य की सफल बहुमुखी योजना का मानचित्र

गया। यह भीमकाय कृत्रिम झील १० वर्गमील में फैली हुई थी। समीपस्थ भूभाग के निवासी इससे अनेक प्रकार से लाभ उठाते थे।

दक्षिण में चोलों का वैभवशाली साम्राज्य दसवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक चलता रहा। उनका सार्वजनिक कार्य-विभाग (पी०

डब्लू० डी०) अत्यन्त व्यवस्थित और सुसंगठित था। उन्होंने भी बहुसंख्यक बाँधों द्वारा अनेकानेक कृत्रिम झीलें और जलागार बनवाये थे। संभवतः वे भी आज से शतियों पूर्व बहुमुखी योजनाओं के वास्तविक आधुनिक स्वरूप को समझने लगे थे। उनके अभिलेखों, पुरातत्व की वस्तुओं, शिलालेखों, ध्वंसावशेषों तथा अन्य आनुषंगिक तथ्यों एवं साक्ष्यों के सम्यक् अनुशीलन एवं पर्यवेक्षण से इस दिशा में उत्तरोत्तर नई-नई बातों के विदित होने की पूर्ण संभावना है।[1]

---

१. विशेष देखिये, लेखक का अनुसंधान प्रबन्ध Development of Geographic Knowledge in Ancient India, अध्याय ७ तथा अन्य अध्याय।

रश्मि | ६

प्राचीन ऋषियों की आधुनिक काल-भावना

समय क्या है ? उसके गुणधर्म क्या हैं ? उसकी गति या प्रवाह एवं दिशा की प्रकृति और स्वरूप क्या हैं—ये प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अति प्राचीन काल से प्रायः सभी सभ्य देशों के दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार करते रहे हैं। किन्तु आज तक आकाश-तरंगों (ईथर) की भाँति उनके रहस्यों का पता नहीं लग पाया है। १९०५ में जब प्रोफेसर अलबर्ट आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद सिद्धान्त (थिअरी ऑव रिलेटिविटी) प्रकाशित हुआ, तो देश, काल और ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी हमारे ज्ञान के क्षेत्र में एक अद्भुत ज्वार-सा आ गया, जिसका प्रभाव अब भी पूर्ववत् बना हुआ है और उससे आधुनिक विज्ञान नित-नूतन सत्यों की ओर बढ़ता जा रहा है। अन्तरिक्ष यात्रा सम्बन्धी मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाएँ और सफलताएँ काल-सम्बन्धी हमारी भावनाओं में और भी विस्मयकारी परिवर्तन करती दृष्टिगोचर हो रही हैं। यह प्रायः निश्चित है कि बीसवीं शती का अन्त होते-होते काल के विषय में हमें और भी बहुत से वैज्ञानिक तथ्य विदित हो जायँगे।

प्राचीन दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को काल सम्बन्धी बहुत-सी वैज्ञानिक बातों का भलीभाँति पता था। हाँ, उनमें कई स्थलों पर अन्धविश्वास और उपाख्यानात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में मिली हुई है। प्राचीन ग्रीस-वासियों की धारणा थी कि सभी प्राणी और चेतन जगत् काल की सन्तान हैं। ग्रीस के प्रतीकात्मक उपाख्यान ऐसी भावनाओं से भरे पड़े

हैं। कुछ काल पश्चात् अरस्तू (एरिस्टाटिल) ने वताया कि 'समय क्या है, उसकी प्रकृति क्या है, ये बातें हमें विदित नहीं।' काण्ट का विचार था कि काल मानव-चेतना का एक रूप है, अर्थात् वह स्वभावगत संवेदना से सम्वद्ध है, जिसका फिर विश्लेपण नहीं हो सकता। कालिदास की शकुन्तला पर विमुग्ध विश्वविख्यात जर्मन नाटचकार गेटे का दृष्टिकोण कुछ और ही था। वह काल को एक तत्त्व मानता था। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद के अनुसार काल वेग पर निर्भर होता है। चतुर्थ परिणाह (फोर्थ डाइमेन्सन) की भावना की अवतारणा में मेंगोवस्की ने काल को चतुर्थ अक्ष (कोआ-र्डिनेट) माना है। १९५८ ई० में रूसी खगोल शास्त्री कोजीरेव ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया, "काल एक भौतिक परिणाह है, वह ऊर्जा उत्पन्न करता है। यह अभिधान अपने पूर्ण व्यापक अर्थ में ब्रह्माण्ड की सभी गतियों, अस्तित्व और विकास के मूलभूत सिद्धान्त को द्योतित करता है।"

प्राचीन भारतीयों ने भी देशकाल तथा ब्रह्माण्ड के रहस्यों के उद्घाटन की बहुत कुछ चेष्टा की थी। इस सम्बन्ध में उनकी गवेषणाएँ तथा विचारणाएँ पर्याप्त वैज्ञानिक और ठीक हैं। काल के विवेचन, उसकी प्रकृति और स्वरूप के निर्धारण में उन्होंने जो बातें कही हैं, वे काल की आधुनिक वैज्ञानिक भावनाओं से बहुत मिलती हैं। वेदों में कहा गया है कि द्यौस् (आकाश) पृथ्वी तथा काल—ये तीनों हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए थे, अथवा दूसरे शब्दों में समस्त देश एवं काल केवल एक सत्ता की इकाइयाँ हैं। यह कथन सापेक्षवाद की देशकाल-संततता (स्पेस टाइम कॉण्टिनुअम) की भावना से वहुत मिलता है। देशकाल-संततता का अर्थ यह है कि देश और काल एक ही पट के सूत्र हैं—एक में बुने हुए हैं। दोनों में अविच्छेद्य संपृक्तता है।

वाल्मीकीय रामायण में सर्वभक्षी काल राम से कहता है, "आपने अपने पूर्व जन्म में माया के संयोग से मुझे उत्पन्न किया था; मैं सबका विनाश करने वाला काल हूँ। प्रजापति ब्रह्मा ने कहा है कि आपने त्रिलोक की रक्षा

का वचन दिया था। पहले जब आप अपनी माया से समस्त प्राणियों का संहार कर समुद्र-जल में सोए हुए थे तो मैं उत्पन्न हुआ था। तत्पश्चात् आपने महाकाय अनन्त की सृष्टि की।"

ये पंक्तियाँ स्पष्ट घोषित करती हैं कि समय का उद्‌भव एक मूर्त सत्य के अवयव वा परिणाह के रूप में हुआ था। इसमें और कोजीरेव की उपर्युक्त भावना में निश्चित सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। महाभारत और उसके पूरक अंश हरिवंश में भी यही कहा गया है कि देश और काल एक मूर्त सत्ता के अवयव के रूप में उत्पन्न हुए थे।

न्याय-वैशेषिक के दर्शनग्रन्थों (बुद्ध से पूर्व) में समय का बहुत ही सुष्ठु और वैज्ञानिक, अनुशीलन और विवेचन दिया हुआ है। भारतीय डिमा-क्रीटस कणाद ने कहा है, "काल में व्याप्त घटनाओं की श्रृंखला में लोक का अन्तरिक्ष में विस्तार होता है। देशकाल केवल भावनाओं में विभक्त किए जा सकते हैं, अणुओं में नहीं।"

उन्होंने समय को एक पदार्थ (सबस्टैन्स) माना है। उनका मत है कि समय के प्रवाह में वर्तमान की कोई सत्ता नहीं—उसके केवल दो ही अंग हैं :—भूत तथा भविष्य। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद में भी एकदम यही बात कही गई है। रूसी अन्तरिक्ष-यात्रा-विशेषज्ञ भी अपने स्पुतनिकों तथा वैज्ञानिक और खगोल विषयक प्रयोगों के आधार पर प्रायेण इसी सत्यता की ओर बढ़ रहे हैं। ऊपर कोजीरेव का यह मत उद्‌धृत किया जा चुका है कि समय में ऊर्जा में परिणत होने की शक्ति होती है, अथवा समय ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है।

इन पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि काल और उसके प्रवाह का एक ऐसा ढाँचा वा यंत्रानुबंध (मेकानिक्स) है, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्त है। इस भावना की तुलना क्वैण्टम मेकानिक्स वा वेवमेकानिक्स (तरंग यंत्रानुबंध) से की जा सकती है।

विष्णुपुराण सृष्टि-रचना के प्रसंग में समय की प्रकृति के सम्बन्ध में

कहता है, "महत् (बुद्धि) से आरंभ होने वाले तथा विशेष (नव शाश्वत पदार्थों—आत्मा, काल, स्थान, आकाश, पंच अणु एवं मनस्) में पर्यवसित उपादानों से एक अंड की उत्पत्ति हुई। यह अंड जल-बुद्-बुद् के सदृश और तत्त्वमय था। इसी अंड से समस्त सृष्टि की रचना हुई।" यह भावना यूनानियों-ग्रीकों की इस धारणा से मिलती-जुलती है कि सारे प्राणधारी समय की सन्तान हैं।

जहाँ तक देश-काल की इयत्ता का प्रश्न है, रामायण तथा विष्णुपुराण के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि संश्लिष्ट देश और काल सीमित हैं, जैसा कि आइन्स्टाइन ने अपने सापेक्षवाद के सिद्धान्त में भी प्रतिपादित किया है। संभवतया जैन भी देश-काल को सीमित मानते थे। हाँ, बौद्ध उन्हें असीम वा अनंत मानते थे। ज्योतिष-सम्राट् भास्कराचार्य इस उलझन में पड़े ही नहीं कि ब्रह्माण्ड (देश-काल) सीमित हैं वा अनन्त—

ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा, कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि,
यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ॥

(मध्यमाधिकार, कक्षाध्याय, श्लोक ३)

(ब्रह्माण्ड चाहे सीमित हो या असीम, इससे प्रयोजन ही क्या ?....)

सापेक्षवाद के सिद्धान्त का एक तथ्य यह है कि एक विशिष्ट उपाय द्वारा समय को प्रभावित किया जा सकता है और उसके प्रवाह तथा गति में मंथरता लाई जा सकती है। फोटोन (प्रकाश के सूक्ष्मतम अणुओं) या उनके राकेटों पर समय सर्वथा गतिशून्य हो जाता है। निम्नलिखित अनुच्छेद से यह बात भलीभाँति समझ में आ जाएगी—

"कल्पना कीजिए कि कोई अन्तरिक्ष-यात्री सिरियस तारे के लिए पृथ्वी से प्रकाशगति से प्रस्थित होता है। यह तारा हमसे बहुत दूर है। तीन लाख किलोमीटर (१,८६,२०० मील) प्रति सेकेण्ड की गति से चलनेवाला प्रकाश नववर्ष में सिरियस पहुँचेगा। पर अन्तरिक्ष-यात्री अपने अनुसार वहाँ तुरन्त पहुँच जाएगा। ठीक यही बात उसके पृथ्वी पर लौटते समय होगी। पृथ्वी पर स्थित वेधकर्त्ता देखेगा कि अन्तरिक्ष-यात्री के आने-

जाने में अट्ठारह वर्ष लग गए, किन्तु उक्त यात्री की दृष्टि से आयु का एक क्षण भी न तो व्यय हुआ और न घटा।"

यह निश्चय रूप से भास होता है कि दो सहस्र वर्ष पूर्व विष्णुपुराण के रचयिता वा प्राचीन भारतीय ऋषि समय की गति की क्रमिक मंथरता एवं गति-शून्यता से अवश्य परिचित थे और उन्हें फोटोन अणुओं तथा राकेटों के विषय में बहुत कुछ ज्ञान था।

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण में एक बहुत ही रोचक उपाख्यान दिया हुआ है—

"कुशस्थली के सम्राट् रैवत के रेवती नाम की एक अनन्य सुन्दरी कन्या थी। उसके विवाह की समस्या उपस्थित होने पर वे उसके योग्य कोई वर पूछने के लिए ब्रह्मा के पास ब्रह्मलोक गए। जब वे वहाँ पहुँचे, तो हाहा और हूहू नामक गन्धर्व ब्रह्मा के सम्मुख एक संगीत समारोह में गीत गा रहे थे, सम्राट् रैवत उस गीत की समाप्ति की प्रतीक्षा करने लगे। इसमें न जाने कितने युग बीत गए, जो उन्हें केवल एक क्षण प्रतीत हुए। गान समाप्त होने पर—रैवत ने अपना प्रश्न ब्रह्मा के सम्मुख रक्खा। ब्रह्मा ने कहा—आप किसे अपना जामाता बनाना चाहते हैं? इस पर रैवत ने बड़ी नम्रतापूर्वक कई नाम बतलाये। तब ब्रह्मा ने मुस्कराते हुए कहा—आपने जिनके नाम गिनाये हैं, उनके परिवारों का अब पृथ्वी पर कोई चिह्न शेष नहीं है। आपको गन्धर्वों का गान सुनते हुए न जाने कितने युग बीत गये? वर्तमान मन्वन्तर का अट्ठाईसवाँ युग भी प्रायः समाप्त हो चला है। कलि द्रुत गति से बढ़ता आ रहा है। आप अपनी कन्यारत्न के लिए स्वयं ही कोई वर ढूँढ़ लें। आपके सारे मित्र, मंत्री, पार्षद, पत्नी, सेना, समृद्धि आदि काल-कवलित हो चुके हैं। क्षण-घटिकाओं वर्षों से समय की माप द्वारा विष्णुशक्ति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। रैवत आपकी प्राचीन कुशस्थली नगरी अब द्वारका कहलाती है।"

इस संलाप के अनन्तर रैवत पृथ्वी पर लौटे तो उन्होंने देखा कि मनुष्य के आकार, शक्ति और बुद्धि सभी कुछ बहुत घट चुके हैं। इसके अनन्तर

अत्यन्त बुद्धिमान सम्राट् रैवत अपनी कुशस्थली नगरी में पहुँचे। वह एकदम बदल चुकी थी। वहाँ उन्होंने अपनी कन्या गौरवर्ण बलदेव को समर्पित कर दी। किन्तु उनकी कन्या की लम्बाई बलदेव की अपेक्षा अत्यधिक थी। उन्होंने अपने हल के फाल से उसे छोटी कर दिया। इससे वह उस समय की अन्य तरुणियों की लम्बाई की हो गई। तब बलराम ने रेवती के साथ शास्त्रानुसार विवाह किया।

रैवत की ब्रह्मलोक यात्रा में और वस्तुतः ब्रह्मलोक में समय की गति अत्यन्त मंथर हो गई थी। ब्रह्मा समय की इस वैज्ञानिक विशेषता को जानते थे, जिसे उन्होंने रैवत को समझाया था। इस प्रकार मानवलोक की भाषा में पृथ्वी के दृष्टिकोण से अंतरिक्षचारी रैवत का अपनी यात्रा में तथा ब्रह्मलोक की प्रतीक्षा करने में कई युग लग गये थे, किन्तु ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के अनुसार वह क्षणतुल्य अत्यल्प समय था। इस आख्यायिका में कोजीरेव का एक और सिद्धान्त अन्तर्निहित दिखाई पड़ता है, कि घूर्णनशील (रोटेटिंग) पिंडों पर समय भिन्न-भिन्न गतियों से चलता है।

चरक सुश्रुत, विविध पुराण, कौटिल्य तथा वेदान्त के संप्रदाय (यथा-निम्बार्क) यह मानते थे कि काल भी परमाणुओं में वा एतादृशलवों में विभक्त किया जा सकता है। पहली दूसरी शती ई० पू० में सौमांकित बौद्धों ने भी इस दिशा में काफी काम किया था।

तो क्या यह माना जा सकता है कि प्राचीन भारतीय अंतरिक्ष-यात्रा में बड़े दक्ष थे तथा फोटोन राकेटों एवं फोटोन यानों का भलीभाँति प्रयोग करते थे और इस प्रकार वे एंटीमैटर वा एंटी सब्सटैन्स (पदार्थेतर वस्तु से भी पूर्ण परिचित थे जिसे विष्णुपुराण (१।२।४५-६०) में अव्यक्त की संज्ञा प्रदान की गई है।[1]

---

१. और दे० लेखकग्रन्थ 'कथाशेप' परमाणु घड़ी की नींव सबसे पहले भारत ने डाली थी।

रश्मि | ७

भारत में क्वैंटम-सिद्धांत का प्रथम प्रवर्त्तन

विज्ञान नित नूतन आचरणों से आगे वढ़ता जा रहा है। वह आकाश-पाताल को एक किये दे रहा है और समस्त दिगन्तहीन ब्रह्माण्ड को हस्ता-मलकवत् कर देने लिये प्राणपण से प्रयत्नशील है। मानव-मस्तिष्क समग्र महाशून्य तथा समस्त द्रव्यस्थिति एवं पिण्डयूथों को अपने विलक्षण विद्युतीय स्नायुमहाजाल में अटा लेने के लिए अनन्त अपरिमेय उद्योग कर रहा है। विश्व ने सफल वैज्ञानिक प्रयोगात्मक तथ्यों के आधार पर प्रायः स्वीकार-सा कर लिया है कि द्रव्य या पदार्थ (मैंटर) एवं ऊर्जा (अपने सारे समाहार-व्यष्टि वा समष्टिरूपों में) वस्तुतः एक हैं—एक ही सत्ता के दो इन्द्रियगम्य या बुद्धिगम्य स्वरूप हैं। परन्तु अभी तक ऊर्जा की एकदम ठीक-ठीक परि-भाषा नहीं दी जा सकी है—उसके स्वरूप का सर्वथा शुद्ध-शुद्ध विश्लेषण और निर्धारण नहीं किया जा सका है। हाँ, हम उसके विविध प्रकट रूपों से अवश्य परिचित हैं। नाना प्रकार के विकिरण, प्रकाश, विद्युत् तथा ताप और अन्त-तोगत्वा चुम्बकत्व एवं ध्वनि उसके वहुसंख्यक सर्वविदित रूप हैं।

विगत डेढ़ सौ वर्षों में इस ऐन्द्रजालिक सर्वव्यापिनी ऊर्जा के स्वरूप को निर्धारित करने की वहुत वार चेष्टा की गयी है। इसमें सबसे सुष्ठु, अन्यतम, सर्वमान्य तथा अभिनव प्रयत्न जर्मन भौतिकशास्त्री मैक्स प्लैंक का है। ऊर्जा के उसके उस सिद्धान्त का नाम क्वैण्टम सिद्धान्त है। इसको और विकसित करने में प्रोफेसर अलवर्ट आइन्स्टाइन का भी पर्याप्त हाथ रहा है।

क्वैण्टम सिद्धान्त के अनुसार ऊर्जा की भी वनावट, स्वरूप वा संघटन पार-माणविक है। अर्थात् जैसे विविध द्रव्य परमाणुओं के वने हुए हैं, उसी प्रकार ऊर्जा में भी परमाणु जैसी कोई वस्तु होती है—अथवा ऊर्जा भी लघुतम

भागों में—परमाणुओं में विभक्त की जा सकती है। जैसे द्रव्यों के छोटे-से-छोटे अंश या विद्युदणु (एलेक्ट्रान) का फिर विभाग नहीं हो सकता (यद्यपि १९६१ में इसके भी विभक्त होने का समाचार प्राप्त हुआ है), उसी प्रकार ऊर्जा के भी लघुतम भाग का पुनः विभाग नहीं हो सकता। ऊर्जा के इन लघुतम भागों को क्वैंटम (मात्रा या राशि) कहते हैं। इसी शब्द के आधार पर क्वैण्टम-सिद्धान्त का नामकरण हुआ है। और समझने के लिए यों कहा जा सकता है कि ये क्वैण्टम ऊर्जा की छोटी-से-छोटी पुड़ियाँ या पोटलियाँ होते हैं। ऊर्जा के ऐसे सूक्ष्मतम वट-बीजों के द्वारा ही ब्रह्माण्ड में देशकाल की विविध इयत्ताओं में ऊर्जा के अनेक विशाल दृश्यमान या अदृश्यमान वनों का प्रसार होता है।

इस सम्बन्ध में एक और निष्कर्ष ज्ञातव्य तथा स्मरणीय है कि इस प्रकार समस्त पदार्थों तथा ऊर्जा या समवेतरूप से अखिल ब्रह्मांड की प्रकृति दो प्रकार की (द्वैध) है—पदार्थ तथा सभी प्रकार की ऊर्जा बनावट में पारमाणविक हैं—परमाणुओं से बने हैं एवं (२) सभी के सूक्ष्मतम अंश स्पन्दनात्मक या कम्पनात्मक गति से व्याप्त हैं। पदार्थों के सूक्ष्मतम अणु और ऊर्जा के सूक्ष्मतम क्वैण्टम या परमाणु असंतत या जस्र (डिस्काण्टिनुअस) हैं। प्रकाश के सूक्ष्मतम लव या परमाणुओं का आधुनिक नाम फोटोन है। फोटोन तथा सभी प्रकार के विकिरणों के परमाणुओं पर (जो ३,००,००० किलोमीटर या १,८६,२०० मील प्रति सेकेण्ड की गति से अन्तराल में चलते हैं) समय या काल गतिशून्य हो जाता है। आधुनिक अंतरिक्ष-यात्रा के ये ही कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं। अस्तु, यह तो हुई प्रास्ताविक बात क्वैण्टम सिद्धान्त और उसके कुछ आवश्यक तथ्यों को समझने के लिए।

हमारा प्रमुख विषय है कि क्या प्राचीन भारतीयों ने क्वैण्टम सिद्धान्त-की दिशा में कुछ सोचने या निकालने का प्रयास किया था और क्या क्वैंटम सिद्धान्त जैसी उन्होंने कोई वस्तु, तथ्य या सिद्धान्त निकाला था या प्रख्यापित किया था? ऋग्वेद के दशम मण्डल के १९०वें सूत्र में कहा गया है कि सृष्टि के आरंभ में सर्वप्रथम ताप (या ऊर्जा) की उत्पत्ति हुई थी। उसी से

ऋत—व्यवस्था वा क्रम—की उत्पत्ति हुई। ऊर्जा में ही व्यवस्था का क्रम निहित था। इससे यह तो सिद्ध है कि ऋग्वैदिक लोगों ने निखिल ब्रह्मांड को ऊर्जा का एक मायाजाल स्वीकार कर लिया था। तो क्या वे ऊर्जा की असंतता वा जस्तता को भी मानने लगे थे? इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। अतएव ऐसे सूक्तों में क्वैण्टम सिद्धांत के किसी प्रकार के वास्तविक आभास को ढूँढ़ने की चेष्टा असम्यक् होगी—वह केवल दूरारूढ़ कल्पना होगी। परन्तु यह बात ध्यान में रखने से भावनाओं के विकास के स्वरूप को समझने में अवश्य सहायता मिलती है।

आपाततः एक बात और महत्त्वपूर्ण है कि वेदों से लेकर सभी संस्कृत ग्रन्थों में किरण के लिए एक शब्द 'रश्मि' का व्यवहार हुआ है। रश्मि शब्द वास्तव में राशि (क्वाण्टिटी वा क्वैण्टम से निकला है वा सम्बद्ध है। अमर संस्कृत-कोशकार मॉनयिर विलियम्स ने भी इसी व्युत्पत्ति की पुष्टि की है।

किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वैशेषिक दर्शनकार कणाद (लगभग ६०० ख्रीष्टाब्द पूर्व) ऊर्जा वा तेजस् की पारमाणविक बनावट के विवेचनकर्ताओं में विश्व में सर्वप्रथम एवं सर्वाग्रणी हैं। वे सभी प्रकार के द्रव्यों एवं ऊर्जा के परमाणुओं की तरंगात्मक वा लहरीली (आसीलेटिंग, अनुडुलेटिंग वा वाइब्रेटरी) गति से भलीभाँति परिचित थे। इसलिए किसी भी मनीषी को यह घोषित करने में तनिक भी हिचकिचाहट न होगी कि वह कणभोजी काश्यप वंशाभिजात सोमशर्मा का शिष्य, कदाचित् प्रयाग के समीप प्रभास नामक स्थान का अधिवासी अप्रतिम दार्शनिक क्वैण्टम सिद्धांत का कम-से-कम पूर्वाभास प्रस्तुत करने में सबसे समर्थ और सुधी ऋषि हुआ है। वैसे इस मनीषी के विवेचन से ऐसा लगता है कि उसने यदि प्रयोगात्मक माध्यमों द्वारा नहीं, तो कम-से-कम अपनी प्रतिभा के सहारे प्रज्ञाचक्षु से आधुनिक क्वैण्टम सिद्धान्त और उसके विविध पक्षों का बहुत ही सुन्दर साक्षात्कार किया था। उसके क्रिया, कर्म और गति के विश्लेषणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने परमाणुओं की ऋणात्मक-धनात्मक विद्युन्मयता तथा विद्युत शून्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त समीचीन अनुमान लगाया था और

इस प्रकार उसने एलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, स्ट्रैञ्ज-पार्टीकिल्स (अदृष्ट) तथा ऐण्टीपार्टीकिल्स (प्रति अभौतिक परमाणु) के अन्तराल में भी घुसने की चेष्टा की थी। तेज वा प्रकाश के अविच्छेद्य परमाणुओं को स्वीकार करते हुए उसने फोटोन तक को भी मान्यता प्रदान की थी तो क्या वे भारतीय सामान्य द्रव्यों से प्रतिपदार्थ (Antimatter) को पृथक् करना और उन्हें प्राप्त करना जानते थे—कम-से-कम क्या उसकी सैद्धान्तिक विधि से परिचित थे ?

किस प्रकार पदार्थों वाले लोक का अन्तरिक्ष में विस्तार होता है, इस सम्बन्ध में वैशेषिककार कहता है—'काल में व्याप्त घटनाओं की श्रृंखला में लोक का अन्तरिक्ष में विस्तार होता है।' कणाद यह जानते थे कि ऊर्जा प्रकाश वा तेजस् के लघुतम लवों वा परमाणुओं अथवा क्वैण्टमों की ब्रह्मांड में एक श्रृंखला (सीरीज) सी फैली होती है। काल सभी प्रकार के परमाणुओं को मिलाने की कड़ी का काम करता है। यह कथन भी क्वैण्टम-सिद्धान्त का ही वाचक है।

फिर कणाद एक स्थल पर सूचित करते हैं कि काल प्रकाशाणुओं वा प्रकाश के क्वैण्टमों वा फोटोनों पर अस्तित्वहीन वा गतिशून्य हो जाता है (नित्येऽस्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति)' तथा काल विभिन्न पदार्थों पर विभिन्न गति से चलता है (तत्तद्भावेन)। उन्होंने यह भी बताया है कि सभी परमाणु (एलेक्ट्रान तथा फोटोन) परिमण्डल गोलकाकार (स्फीरिकल) होते हैं। उनके नवीं शती के मैथिल टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि प्रकाश बृहत् वृत्तों में चलता है। ठीक यही बात आइन्स्टाइन ने भी कही है।

ये सभी तथ्य आधुनिक क्वैण्टम-सिद्धान्त तथा क्वैण्टम अनुबन्ध (मेकानिक्स) के सांगोपांग वर्णनों तथा विवृतियों से मिलते हैं। अतएव विशदताओं तथा सूक्ष्म तथ्यों के ग्रहण में भी कणाद की बातें आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा क्वैण्टम-सिद्धान्त से पूर्णतया मेल खाती हैं।

वैशेषिक सूत्र में ऊर्जा के परमाणुओं वा क्वैण्टमों के गुणधर्म की

मीमांसा इस प्रकार की गयी है। ऊर्जा के परमाणुओं की विशेषता होती है—वर्ण, स्पर्श, संख्या, परिणाह वा मात्रा (डाइमेन्सन वा क्वैण्टम), पृथकत्व, संघटन, विघटन, पौर्वापर्य्य, द्रवत्व तथा वेग (वेलॉसिटी)। यहाँ परिणाह तथा मात्रा स्पष्टतया क्वैण्टम की मूलभावना के परिलक्षक हैं। संख्या शब्द पता नहीं किसी 'प्रमुख क्वैण्टम संख्या (प्रिंसिपल क्वैण्टम नम्बर)' जैसी वस्तु का तो द्योतक नहीं है ?

भारतीय दर्शन में एक शब्द 'तन्मात्रा' खीष्टाब्द के शतियों पूर्व से प्रयुक्त होता चला आ रहा है। इसका अर्थ भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश होता है। सांख्य और योगदर्शन में इस शब्द का बहुत महत्त्व है और उन्होंने इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार-विमर्श किया है तथा लिखा है। तेजस् वा ऊर्जा के सन्दर्भ में यह तन्मात्रा शब्द किसी-न-किसी प्रकार किसी क्वैण्टम भावना की संवेदना के आभास को द्योतित करता है।

योग के कैवल्यपाद में एक सूत्र आता है—'क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिग्राह्यः क्रमः'। इसका विशद विवेचन करने पर विदित होता है कि ऊर्जा और काल के सूक्ष्मतम लवों में एक असंतता होती है। मोटे शब्दों में ऊर्जा के परमाणु के परिणाह देश के अंतराल में तो फैले ही होते हैं, काल में भी उसका एक परिणाह अवश्य होता है। अतः यहाँ भी क्वैण्टम-सिद्धान्त की मूलभूत भावना झाँकती-सी दृष्टिगोचर होती है।

सबके ऊपर बौद्धों की परमाणुओं की मीमांसा और विश्लेषण आते हैं। इनमें आधुनिक वैज्ञानिकता का आधार सबसे अधिक दृष्टिगोचर होता है। वे प्रतिपादित करते हैं कि विविध परमाणु (जिनमें ऊर्जा के परमाणु भी अन्तर्निविष्ट हैं) देश वा दिक् (स्पेस) में तो स्थान घेरते ही हैं, उनके परिणाह का प्रसार होता ही है, साथ ही वे काल की सीमा-रेखा वा इयत्ता में भी एक अतिसूक्ष्म मात्रा में अवस्थित होते हैं। यह मत मैक्स प्लैंक के क्वैण्टम-सिद्धान्त की परिभाषा में सबसे अधिक सुष्ठु ढंग से बैठ जाता है। इससे लगता है कि उन्होंने वैशेषिक दर्शन तथा बुद्ध के ज्येष्ठ समसामयिक पकुध कात्यायन की प्राथमिक वैशेषिक प्रणाली पर बहुत अच्छा मनन और

गवेषणा की थी तथा उनके कार्यों को अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति से विकसित किया था। इसी कारण वे क्वैण्टम के सबसे अधिक समीप पहुँच पाये थे। प्राच्यविद्या विशारद तथा भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के पंडित लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० एल० बैशाम ने इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि बौद्धों का शून्यवाद हाइजेमवर्ग की आधुनिक अनिश्चितता सिद्धान्त वा थियरी अब इन्टो टरमिनेसी से बहुत मेल खाता है।

जैनों का विश्वास था कि सभी परमाणु एक होते हैं। तत्त्वों के गुण-धर्म तथा प्रकृति में अन्तर का कारण यह है कि उनके परमाणुओं की परि-स्थिति और संघटन की शैलियों में एवं प्रक्रियाओं में भिन्नता होती है। इन सभी बातों का आधुनिक ऊर्जा के सूक्ष्मांशों, नाना प्रकार के विद्युदणुओं की विशेषताओं से अच्छा सामंजस्य दिखाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनों का परमाणु ज्ञान आधुनिक परमाणु भौतिकी (एटामिक फिजिक्स) से बहुत कुछ मिलता है। इस स्थिति में यह निष्कर्ष कि उन्हें भी भारतीय परंपरा में क्वैण्टम-सिद्धान्त की कुछ-न-कुछ धारणा अवश्य रही होगी, तनिक भी निराधार नहीं प्रतीत होता।

जैनों के अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथ सूर्यप्रज्ञप्ति में ऊर्जा, ओज वा प्रकाश के इस पक्ष पर पर्याप्त सुचारु प्रकाश डाला गया है। उनके एक ग्रन्थ प्रज्ञापना में भी इस पर 'लेश्यापदम' नाम का एक पृथक् अध्याय है।

सूर्य प्रज्ञप्ति में प्रकाश वा ऊर्जा की विविध बातों का कई अध्यायों में विशद विवेचन किया गया है। यह यथार्थ है कि उसमें वैज्ञानिक तथ्यों के साथ-साथ काल्पनिक और उपाख्यानात्मक सूचनाएँ भी प्रभूत मात्रा में मिली हुई हैं।

सूर्य प्रज्ञप्ति तथा प्रज्ञापना दोनों में ही सूर्य की ऊर्जा के वर्णन में प्रायः सर्वत्र एक अभिधान 'लेश्या' का व्यवहार किया गया है। लेश्या का सामान्य अर्थ तो साधारणतया प्रकाश ही होता है, किन्तु लेश्या का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है—'अति लघुमात्रा'।

सूर्य प्रज्ञप्ति (३६५ ई० पू०) के प्राभृत ६, सूत्र २७ (मलयगिरि टीका सहित) में सूचित किया जाता है—'प्रतिक्षणमेव सूर्यस्य ओजोऽन्यदुत्पद्यते, अन्यदपैति, किमुक्तं भवति ? प्रतिक्षणं सूर्यस्य ओजः प्राक्तनभिन्नप्रमाणं विनश्यति, अन्यदेव प्राक्तनाद्भिन्न-प्रमाणमोजः उत्पद्यते।' 'प्रतिक्षण सूर्य की ऊर्जा उत्पन्न हो रही है और प्रतिक्षण सूर्य की ऊर्जा विनष्ट हो रही है।' यह क्वैण्टम-सिद्धान्त का एक सीधा प्रत्यक्ष वा अत्यन्त सरल निष्कर्ष है। इस कथन की शब्दावली में चाहे अविकल या परिनिष्ठित गणितीय तर्क-प्रतिष्ठता न आ पायी हो किन्तु उनमें एक सत्य के प्रख्यापन का प्रयास तो निहित है ही।

समस्त भारतीय वाङ्मय, दर्शन तथा सरस साहित्य में तेजस् शब्द का प्रयोग अधिकतम व्यापक अर्थ में किया गया है—अर्थात् वह सर्वत्र सभी प्रकार की ऊर्जा वा ऊर्जाओं के लिए व्यवहृत हुआ है। वैशेषिककार ने इसको ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि किसी प्रकार के सन्देह या सङ्कीर्णार्थता के लिए स्थान नहीं रह जाता। वह कहता है कि तेजस् के विशाल परिवेश में प्रकाश, ताप सभी प्रकार के विकिरण, विद्युत् आदि सभी संनिविष्ट हैं। यहाँ तक कि उसने इस नामावली में आकाशीय तड़ित् (लाइटनिङ्ग) को भी गिना डाला है। यहाँ इस प्रकार एक और आश्चर्यजनक बात दिखाई पड़ती है कि आकाशीय तड़ित् का सर्वप्रथम और सर्वथा ठीक-ठीक गवेषक एक भारतीय (वैशेषिककार कणाद) था, सुविख्यात अमेरिकी भौतिक शास्त्री तथा राजनीतिज्ञ बेंजमिन फ्रैंकलिन नहीं। यह बात दूसरी है कि कदाचित् कणाद की गवेषणा अपने समान-धर्मा फ्रैंकलिन की भाँति प्रयोगों पर आधारित न रही हो, उसका आधार 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार चिंतन और समाधि रहा हो। अतः स्पष्ट है कि भारतीयों की प्राचीन ऋषि-परम्परा ने अपनी विचारणाओं में क्वैण्टम-सिद्धान्त के समस्त परिवेशों, सभी क्षेत्रों (विकिरण, प्रकाश, तापि आदि को) पूर्णतया अथवा भलीभाँति सन्निविष्ट कर लिया था।

भारतीय[1] परमाणु-दर्शन, परमाणु-भौतिकी या परमाणु विवेचन की दीर्घ-कालिक परम्परा उनकी विविध धाराओं, पूर्वापर सम्बन्धों एवं आनुषंगिकताओं का मनीषापूर्वक आकलन एवं अनुसन्धान करने तथा उनका आधुनिकता एवं अभिनवतम वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश में निरीक्षण करने से यही ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयों ने क्वैण्टम-सिद्धान्त की दिशा में केवल विमर्श तथा अनुमानों की सम्यक् नींव ही नहीं डाली थी अपितु कुछ मौलिक, ठोस और असाधारण आविष्कार करने की चेष्टा की थी और उसमें सफलता भी प्राप्त की थी। इसमें उन्होंने विदेशियों से कुछ न लिया था वे लब्धकीर्ति परमाणुवादियों—ल्यूक्रीटस (रोमन लैटिन) तथा डिमाक्रीटस (ग्रीक) से बहुत आगे थे। उनकी उपर्युक्त गवेषणाएँ तथा आविष्कार कालानुक्रम में भी इन दोनों विदेशी दार्शनिकों से बहुत पहले के हैं।

हाँ, उन भारतीय ऋषियों की अमर आत्माएँ अन्तराल के किसी कोने से मैक्स प्लैंक तथा आइन्स्टाइन की चिरन्तन ज्योतिष्मती प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा में भवभूति के स्वर में स्वर मिलाकर अवश्य नीरव प्रतिध्वनि कर रही होंगी—

'....उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समान-धर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च भूमिः।'

---

१. "और दे० माया प्रसाद त्रिपाठी लिखित ग्रंथ 'कथाशेष' में परमाणु घड़ी.... .... थी।" शाक्तों और तान्त्रिकों के 'विन्दु' का निहितार्थ (संकोचन प्रसारणात्मक) भी क्वैण्टम सिद्धान्त की प्रस्थापनाओं से ओत-प्रोत है। यह आनन्द के सरजान उड्राफ का विवेच (अध्याय १०) इस निर्वाचन की विशद पुष्टि करता है?

भारत में चश्मे का प्रयोग कब आरम्भ हुआ ?

विश्वविश्रुत जर्मनी के क्रूप और ताता के लौह कारखानों के पुरखों का ज़न्म, अभ्रक का उत्पादन, एम्सटर्डम और हेग की भाँति रत्नों की कटाई और ओप (पालिश) के काम का आरम्भ तथा काँच की विविध वस्तुओं यथा दर्पण कूपी, पुटपाक आदि का निर्माण-कार्य भारत में आज से कम-से-कम दो सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य विकसित हो चुका था। कौटिल्य, कालिदास, चरक, सुश्रुत, मानसार एवं वात्स्यायन का कामसूत्र तथा अन्य विविध ग्रन्थ, पुरातत्त्व की वस्तुएँ एवं ध्वंसावशेष इस बात के अकाट्य साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इतिहासविदों का एक सम्प्रदाय यह भी मानता है कि हड़प्पा तथा मोहेनजोदड़ो सभ्यता के लोग आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व काँच के मनके आदि वस्तुओं का व्यवहार भलीभाँति जानते थे। कुछ भी हो, ब्राह्मणों में कम-से-कम १००० ई० पूर्व काँच का स्पष्ट उल्लेख आया है। दर्पण या दर्पण के समान कोई वस्तु द्योतित करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों ने 'प्राकाश' शब्द का प्रयोग किया है।

इतिहास में इस बात के भी प्रमाण विद्यमान हैं कि विदेशों से भी ईसा के शतियों पूर्व नाना प्रकार की काँच की वस्तुएँ एवं वर्तन भारत में मँगाये जाते थे। यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि मेरठ जिले के हापुड़ के पास के ब्रह्मपुर नामक स्थान में बने हुए काँच के मनकों के माध्यम से भारतीय व्यापारी अफ्रीका के जन्जीवार (शंखवर) तट से प्रभूत व्यापार करते थे। वहाँ ऐसे मनके बहुत बड़े परिमाण में पाए गये हैं। गुप्तकाल में तो काँच की प्रसाधन, शृंगार और अलंकरण की बहुत ही सुन्दर-सुन्दर और कलापूर्ण वस्तुएँ बनने लगी थीं और उनका प्रचुर प्रयोग होता था

परन्तु प्राचीन भारत में चश्मे का प्रयोग कब आरम्भ हुआ और उसके निर्माण के कारखाने कैसे-कैसे विकसित हुए—इस प्रश्न पर इतिहासज्ञों ने प्रायः एकदम ध्यान नहीं दिया है। वैसे यह प्रश्न है बहुत ही रोचक और महत्त्वपूर्ण।

जहाँ तक प्रस्तुत लेखक का मत है, प्राचीन भारत में चश्मे का प्रयोग खीष्टाब्द से कम-से-कम १००-२०० वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था। ऊपर काँच के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, उनके पूर्वापर सम्बन्ध पर भली-भाँति विचार करने से इस कथन को पर्याप्त बल प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो तथा वैदिककाल के लोग स्फटिक वा बिल्लौर का प्रयोग भी निश्चित रूप से जानते थे। अति प्राचीन काल में ऐसा लगता है कि चश्मे के ताल (लेन्स) सर्वप्रथम बिल्लौर पत्थर से ही बनाये जाते थे। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में भी भारत के साधारण लोग यही समझते थे कि चश्मे पत्थर के बनाये जाते हैं और इस कारण जनसाधारण की यह परम्परागत धारणा थी कि पत्थर के चश्मे अपेक्षाकृत सुन्दर, टिकाऊ और शीतल तथा आँखों के लिए हितकर होते हैं। इस प्रकार भी उपर्युक्त कथन की पूर्णतया पुष्टि होती है।

परन्तु प्राचीन भारतीय १००-२०० ई० पूर्व चश्मे का प्रयोग अवश्य जानते थे, इस बात का सबसे प्रबल प्रमाण मानसार नामका प्राचीन वास्तु-ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। बहुसंख्यक विद्वानों के मतानुसार इस ग्रन्थ का प्रणयन खीष्टाशब्द से १००-२०० या कम-से-कम २५ वर्ष पूर्व हो चुका था। इस ग्रन्थ के नवें अध्याय के ११७वें छन्द में नगर-नियोजन (टाउन प्लैनिंग) के प्रसंग में चश्मे की चर्चा इस प्रकार आयी है—

वायव्ये वा नरे (नागे), वाऽपि स्थपतीनां तथालयम्।
नागे चाथवा मुख्ये, वा नेत्ररत्नकरालयम् ॥

"………नगर के मुख्य भाग में 'नेत्ररत्न' बनाने वालों वा निर्माण करने वालों का घर होना चाहिये।"

'नेत्ररत्न' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से चश्मे के लिए ही किया गया

है। वैसे कुछ लोगों ने इस शब्द का अर्थ 'आँखों को सजाने वाला रत्न', 'नेत्रांजन', कोई विशिष्ट रत्न' लगाया है। मानसार के विशेषज्ञ संस्कृत और पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय डॉक्टर प्रसन्नकुमार आचार्य ने भी 'नेत्ररत्न' का जो अर्थ किया है, वह प्रस्तुत लेखक के ही मत को निस्संदिग्ध प्रतिपादित करता है।

ईसा से कुछ पूर्व ही सुश्रुत ने चश्मे के लिए 'कायाक्ष' शब्द का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता १ २०५. १८ द्रष्टव्य है।

इन सब आनुषंगिक तथ्यों एवं युक्तियों के आधार पर यह मत मान लेने में रञ्चमात्र भी आपत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती कि मानसार काल में भारतीय चश्मा-निर्माण भली-भाँति जानते थे और उसके निर्माण के विशेषज्ञों मयशास्त्रियों (इञ्जीनियरों) की एक विशिष्ट जाति बन गयी थी और नगर में उनके घरों एवं कारखानों का विशिष्ट केन्द्र होता था, जो बड़ा उन्नतिशील रहा होगा।

सुविख्यात चीनी यात्री ह्वेनसाँग वा य्वान-च्वांग ने ६३० से ६४४ ई० तक महाराज हर्ष के राजत्वकाल में भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया था। उसने अपने पर्यटन के इतिवृत्त में भारत में विविध खनिज द्रवों के उत्पादन एवं भौगोलिक वितरण का बहुत अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि इस अन्तरा में देश में सुवर्ण, रजत, रत्नों तथा चश्मे के बिल्लौर अथवा स्फटिक-निर्मित तालों का नितान्त प्राचुर्य था। उसने स्फटिक निर्मित तालों के लिए 'हो चू' शब्द का प्रयोग किया है।

विविध खनिज द्रव्यों एवं रत्नों की सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में वह लिखता है कि सोना और चाँदी बोलार (लघु तिब्बत), ठक्क, कुलूत, शतद्रुप्रदेश (जिसमें अम्बाला, सरहिन्द, लुधियाना तथा पटियाला राज्य सम्मिलित थे) एवं सिन्ध से मँगाये जाते थे; सोना उद्यान, दारेल तथा मथुरा से; लोहा उद्यान तथा टक्क से; ताँबा टक्क, कुलूत और नेपाल से; तू शिह (?) कुलूत, मयूर नगर (हरद्वार) तथा ब्रह्मपुर से; स्फटिक ताल (लेन्स) कश्मीर और

कुलूत से; लवण सिन्ध से; बिल्लौर और स्फटिक पत्थर मयूरनगर तथा ब्रह्मपुर से। धुर दक्षिण द्रविड़ देश में बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते थे।

अभी तक इस बात को निराधार सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति, तर्क तथा तथ्य नहीं प्राप्त हुआ है कि 'स्फटिक-ताल' शब्द चश्मे के ताल के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। देश और विदेश दोनों के ही अभिलेखों, ग्रन्थों तथा पुरातत्त्व के अवशेषों द्वारा भी यही प्रतिपादित होता है कि ब्रह्मपुर अत्यन्त प्राचीन काल से ही (आज से कम-से-कम २००० वर्ष पूर्व से ही) काँच, स्फटिक आदि के सामानों एवं पण्यों के निर्माण का प्रधान केन्द्र था। पहले ब्रह्मपुर के इस उद्योग के सम्बन्ध में सम्यक् परिनिर्देश किया जा चुका है। अतः प्राचीन भारत में चश्मे की निर्माण की बात पूर्ण साधार मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं दृष्टिगोचर होती।

मानसार से ह्वेनसाँग के कालक्रम की परम्परा, इतिहास और विकास की पद्धति का सारा-का-सारा पूर्वापर सम्बन्ध और आनुषांगिकता एक ही तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

मध्य अमेरिका के देश और 'मय' तथा 'इनका' नाम की सभ्यताएँ बृहत्तर भारत की सभ्यता और संस्कृति के परिवेश में ख्रीष्टाब्द के आरम्भ में आ चुकी थीं। मैक्सिको (माक्षिक देश), ग्वाटीमाला (गौतमालय), मध्य अमेरिका, पीरू, इक्वेडोर, चीली, गोलविया आदि देशों में भारतीय सभ्यता, ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृति पूर्वी द्वीपसमूह एवं पालीनेशिया से होती हुई अति प्राचीनकाल में पहुँच चुकी थी। बौद्ध काल में ख्रीष्टाब्द के आस-पास स्वयं भारतीय बौद्ध भी किसी-न-किसी प्रकार यहाँ पहुँच चुके थे। इस बात के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं कि इनका लोग नतोदर तालों (कान-केव लेन्सेज) का और दर्पणों का भलीभाँति प्रयोग करते थे। अतएव उनकी सभ्यता और संस्कृति के मूल स्रोत भारतीय विविध प्रकार के तालों का निर्माण, प्रयोग एवं वैज्ञानिक विवेचन तथा विशेषताएँ अनिवार्यतः जानते रहे होंगे।

इस सम्बन्ध में प्रो० रिचर कालडर की अग्रलिखित पंक्तियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं—

'इनकाके प्रहरी इण्डीज पर्वत के शिखरों पर विविध प्रकार के संकेत भेजने के लिए तथा संकटों-आपत्तियों की सूचना देने के लिए नतोदर तालों (आतशी शीशे) द्वारा आग जलाते थे।'

यह बात प्रोफेसर कालडर ने राष्ट्र संघ के 'प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग' के सम्बन्ध में होने वाले सम्मेलन के विषय में जुलाई, १९६१ में लिखे गये अपने एक लेख में कही थी। इस प्रकार द्वीपान्तर का यह ऐतिहासिक तथ्य भी सम्प्रति प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते समय नितरां महत्त्व का है।

परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल में चश्मे का आकार-प्रकार कैसा होता था ? जब तक कोई चित्र, भित्तिचित्र तथा स्थापत्य का इस सम्बन्ध में कोई दृष्टान्त अथवा प्रतिमान (माडल) न मिल जाय, तब तक इस सम्बन्ध में कुछ मत निर्धारित नहीं किया जा सकता। लिखित इतिहास, पुराण अथवा ऐतिह्य की पंक्तियों में भी उपर्युक्त अति सामान्य परिनिर्देश के अतिरिक्त कोई विशद अथवा सन्तोषजनक वर्णन वा विवरण नहीं उपलब्ध है।

यह बात भी एकदम विदित नहीं कि चश्मे के तालों का आकार-प्रकार कैसा होता था ? हो सकता है, ताल गोल बनते रहे हों, क्योंकि गोल आकार में ही सबसे अधिक सुडौलपन होता है। साथ ही गोल आकार की वस्तुओं को ढालने में भी सरलता होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चश्मे के ताल बिल्लौर पत्थर तथा सैकत से बनाये जाने वाले सामान्य काँच दोनों के ही बनते थे। बिल्लौर पत्थर के चश्मे अधिक अच्छे और टिकाऊ होते रहे होंगे। पर मूल्य अधिक होने के कारण उन्हें केवल धनीमानी लोग ही खरीद पाते रहे होंगे। काँच के चश्मे जनसाधारण के लिए बनते रहे होंगे और उनका मूल्य स्फटिक चश्मे की तुलना में कम रहता रहा होगा।

रश्मि | १

दिङ्नागाचार्य और उनकी 'कुन्दमाला'-१

संस्कृत-साहित्य के अनुसंधान और अध्ययन की दिशा में पर्याप्त उन्नति हो चुकी है। आज भी बहुसंख्यक लोग सतत वर्द्धमान उत्साह से इस कार्य में जुटे से दिखाई पड़ते हैं। पर यह बड़ी ही विस्मयावह बात है कि अभी तक न तो कुन्दमाला नाटक का सम्यक् अनुशीलन ही प्रस्तुत किया जा सका है और न तो उसके विषय में अनुसन्धान ही पूरा हो पाया है। यही कथन उसके प्रणयन-कर्त्ता के विषय में भी पूर्ण रूप से घटित होता है ! इस अन्धकार-प्रच्छन्नता से उत्पन्न कौतूहल, जिज्ञासा तथा कुन्दमाला की सर्वांग सुन्दरता एवं अनूठापन परम रमणीय रहस्योन्मीलन की ओर प्रेरित और प्रवृत्त करते हैं। सहृदय विद्वानों और सामान्य संस्कृतज्ञ-वर्ग में इसका भास, कालिदास और भवभूति जैसा प्रचार न होने का कारण यह है कि अभी तक इसकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं वे सभी खण्डित हैं। केवल येन-केन-प्रकारेण बड़े परिश्रम के पश्चात् उनकी सहायता से अभी तक इसके दो संस्करण ही पाये हैं—पहला १९२३ ई० में मद्रास से रामकृष्ण कवि तथा रामनाथ शास्त्री द्वारा संपादित, दूसरा जयचन्द्र शास्त्री द्वारा संपादित तथा मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित (१९२९ ई०)। जयचन्द्र शास्त्री के संपादित संस्करण में बहुत ही सुन्दर संस्कृत टीका भी दी हुई है।

नाटक के आरम्भ में सूत्रधार की उद्घोषणा से यह निर्विवाद सिद्ध है कि कुन्दमाला नाटक कवि दिङ्नाग की कृति है। किन्तु कवि दिङ्नाग वा

दिङ्नागाचार्य के काल और जन्मस्थान के सम्बन्ध में बहुत से मत-मतान्तर प्रचलित होने के कारण उक्त विषय में बहुत पर्यन्वेषण और पर्यालोचन अपेक्षित है।

कुछ लोग इन्हें चतुर्थ-पंचम शती का और कुछ लोग दशम शताब्दी का बतलाते हैं। वैसे तो कुन्दमाला का उल्लेख विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और भोजदेव के शृंगारप्रकाश में भी है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम चर्चा रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र प्रणीत नाट्य-दर्पण में आई है। इससे सिद्ध है कि ईसा की दशम शताब्दी तक इस नाट्य-ग्रन्थ का प्रणयन अवश्य हो चुका था।

परन्तु काल-निर्णय के सम्बन्ध में पर्याप्त निश्चित रूप से कुछ कहने के प्रथम इस प्रश्न पर विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि कवि दिङ्नाग और बौद्ध मतावलम्बी उद्भट तार्किक दिङ्नाग दो व्यक्ति थे अथवा एक ही व्यक्ति ! इस सन्दर्भ में अधोलिखित बातें विचारणीय हैं :—

१. कम-से-कम जातककाल से ही (देखिए जातक) बौद्धों में रामकथा का पर्याप्त प्रचार और आदर था। अतएव यदि बौद्ध दिङ्नाग ने रामकथा को अपने नाटक का वर्ण्य-विषय चुना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं ! अन्य बौद्ध पण्डितों ने भी रामकथा को पर्याप्त महत्त्व और प्रतिष्ठा प्रदान की थी। छठीं शती के आस-पास के बौद्ध कुमारदास ने संस्कृत में ही 'जानकीहरण' नाम के महाकाव्य का प्रणयन किया है।

२. बौद्ध दिङ्नाग का जन्मना ब्राह्मण होना तो पूर्णतया सिद्ध है। संस्कृत नाटककार दिङ्नाग भी अवश्यमेव ब्राह्मण रहे होंगे। अतएव दोनों एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

इस प्रकार यह सोचा जा सकता है कि दिङ्नाग अपने जीवन में वैदिक और ब्राह्मणिक वाङ्मय पढ़ने के कदाचित् पीछे बौद्धधर्म में दीक्षित हुए थे और उसका अनुशीलन किया था। लगता है कि काव्य को तिलांजलि दे कर वे अपने जीवन के उत्तर-काल में तर्क और दर्शन में

एकदम डूब से गये। कदाचित् इसी कारण उनकी लेखनी से कुन्दमाला को छोड़कर कोई दूसरा साहित्यग्रन्थ नहीं प्रादुर्भूत हुआ।

३. बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग का काल प्रायः निश्चित है। कुछ लोग जैसे देवस्थली[1] इन्हें चतुर्थ शती के आस-पास का और कतिपय इतिहास-मनीषी जैसे नलिनाक्षदत्त[2] इन्हें पंचम शती के कुछ इधर-उधर का मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध दिङ्नाग गुप्तकाल की शतियों के आस-पास हुए थे।

कुन्दमाला नाटक में (अंक ३–४) समीचीन वातावरण के लिये वैदिक या ब्राह्मणिक धर्म की रीति-प्रथाओं, आश्रम, यज्ञ, हवन आदि की अच्छी झलक उपस्थित की गई है। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि उस समय बहुत सम्भव है ब्राह्मणिक धर्म बड़ी उन्नति पर था जिसकी ऐश्वर्यमत्ता के विभिन्न क्रिया-कलापों को कवि ने अपनी आँखों देखा था। कुन्दमाला के नान्दी-पाठ और सूत्रधार-वचन में इसी वातावरण का सूत्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है। उनमें गणेश और शिव की वन्दना की गई है। अतएव कवि और दार्शनिक दिङ्नाग का एक होना कोई असंगत नहीं।

दूसरे शब्दों में दिङ्नागाचार्य अपने आचार्यत्वकाल में परम बौद्ध थे, उस समय जनता और राजधर्म के सिंहासन पर वैदिक धर्म अधिष्ठित था। अतएव कवि और दार्शनिक दिङ्नाग का दोनों धर्मों (जीवन में बौद्ध और काव्य में वैदिक) को पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान करने में कोई विप्रतिपत्ति वा विरोध नहीं दिखाई पड़ता। इस दशा में इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता कि कुन्दमाला की रचना कवि के जीवन के पूर्व भाग में हुई थी अथवा उत्तर भाग में?

---

१. History of Indian People and Culture; edited by R. C. Majumdar, Vol. III,

२: वही।

४. कुन्दमाला के चतुर्थ अंक में एक स्थल पर (पृष्ठ ११७) तार्किकों की शैली में विम्व-प्रतिविम्व का संकीर्तन आया है। वह इंगित करता है कि बौद्ध तार्किक और नाटककार दिङ्नागाचार्य एक ही व्यक्ति थे।

५. कुन्दमाला जैसी आश्रमादि की चित्रोपम झलक केवल भास (स्वप्न० अंक १) और कालिदास (शाकुन्तल अंक १ से ४) में ही मिलती है। अतएव तीनों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह के दर्शन होते हैं। यह प्रवाह कदाचित् ख्रीष्टाब्द के एक-दो शताब्दी पूर्व से लेकर चार-पाँच शताब्दी पश्चात् (गुप्त काल के पर्यवसान) तक चलता रहा। अतएव तीनों में चार, पाँच तथा छः शताब्दी से अधिक अन्तर न होना चाहिए।

कथावस्तु के मूलतः वहुत कुछ एक रहते हुए भी भवभूति में आश्रमादि की वैसी झलक नहीं मिलती है। ऐसा लगता है भवभूति परवर्त्ती काल में हुए थे जिसमें आश्रमादि की प्रथा और प्रभाव घटने लगा था।

६. कुन्दमाला की अन्तःरचना में भास के स्वप्नवासवदत्तम् और कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् तथा शाकुन्तल के कई स्थलों से वहुत साम्य दिखाई पड़ता है—

(१) जिस प्रकार स्वप्नवासवदत्तम् अंक ४) में उदयन विदूषक द्वारा लाये हुए जल से अपनी अश्रुपरिप्लुत आँखें धोते हैं उसी प्रकार कुन्दमाला में राम दीर्घिका के जल से अपने आँसू धोते हैं।

(२) स्वप्नवासवदत्तम् (अंक ५) में उदयन का वासवदत्ता से दैवात् और प्रायः अज्ञात समागम की वात को विदूषक स्वप्न बतलाता है, उसी प्रकार राम और अदृश्य सीता के क्षणिक मिलन को (कुन्दमाला, अंक ४) विदूषक तिलोत्तमा की प्रवंचना कहता है।

(३) नैमिषारण्य में दीर्घिका के पास (कुन्दमाला, अंक ४) सीता का मुनिप्रभाव से अदृग्गोचर होना उर्वशी की तिरस्करिणी प्रच्छन्नता (विक्रमोर्वशीयम्, अंक २) से मिलता है।

(४) वनदेवता द्वारा सीता को दिये हुए उत्तरीय की बात शकुन्तला को वृक्षों द्वारा दिये हुए 'क्षौम-वस्त्र' (शाकुन्तल, अंक ४) के वृत्त से मिलती है।

(५) शकुन्तला का विरहिणी रूप (अंक ६) सीता के वियोग-खिन्न वेश से मिलता है (कुन्दमाला, अंक ४, १४)।

(६) वेदवन्ती, यज्ञवती तथा यज्ञवेदी तीन मुनि-कन्या-चरित्रों की अवतारणा शाकुन्तल की प्रियंवदा, अनुसूया की स्मृति दिलाती है।

(७) माधुर्य तथा प्रसाद गुणवती वैदर्भी रीति भास, कालिदास तथा दिङ्नाग की अविकल विशेषता है। इन सबसे आभासित होता है कि दिङ्नाग भास और कालिदास से प्रभावित हुए थे। भवभूति का उन पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है।

७. अति प्राचीन भास के नाटकों में नाटकारम्भ की भूमिका को 'स्थापना' के नाम से अभिहित किया गया है, उनके स्थान में "प्रस्तावना" शब्द का प्रयोग कालान्तर में होने लगा था; (यद्यपि भास के नाटक कर्णभार में प्रस्तावना शब्द दृष्टिगोचर होता है।)

"The introduction is normally styled Sthapana not as later prastavana, and it is extremely simple; after a Nandi, not preserved, has been pronounced perhaps behind the scene—the director enters, utters a benediction, and is about to make announcement when a sound is heard which leads upto the actual drama."—Sanskrit Drama; by A. B. Keith, p. III, 1954.

भास के नाटकों की भाँति ही कुन्दमाला की स्थापना भी बहुत सरल है।

भास के स्वप्नवासवदत्तम् आदि नाटकों की स्थापना के आरम्भ में एक वाक्य आता है "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" कुन्दमाला की भी स्थापना के आरम्भ में यही वाक्य प्रयुक्त हुआ है।

जैसे अश्वघोष के नाटक शारिपुत्र-प्रकरण (शारद्वती पुत्र प्रकरण) के अन्त में "भरत वाक्यं" भगवान् बुद्ध के मुँह से कहलाया गया है, नाट्यशास्त्र के परम्परागत विधान के अनुसार नाटक के नायक के मुख से नहीं। उसी प्रकार कुन्दमाला में भरत-वाक्य का उच्चारण महर्षि वाल्मीकि करते हैं, नाटक के नायक राम नहीं। इससे यह भी द्योतित होता है कि दिङ्नागाचार्य ने अश्वघोष या प्राचीन दृष्टान्त का ही अनुकरण किया था। अतएव कुन्दमाला को अर्वाचीन न होना चाहिए।

इस सम्वन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है कि भरत-वाक्य का नाट्यशास्त्र द्वारा अविहित इस ढंग का प्रयोग केवल दो संस्कृत नाटकों में मिलता है। पहला भट्टनारायण (सातवीं शती का उत्तरार्ध) के वेणीसंहार में जिसमें युधिष्ठिर भरत-वाक्य का उच्चारण करते हैं, पर इस भरत-वाक्य में अश्वघोष और दिङ्नागाचार्य से कुछ विशेषता है, अतएव भट्टनारायण को दोनों से पीछे का होना चाहिये। उपर्युक्त अपवाद का दूसरा दृष्टान्त है प्रह्लादन देव का 'पार्थ पराक्रम'। इसमें भी भरत-वाक्य का पाठ "वासव" ने किया है, नाटक के नायक अर्जुन ने नहीं। किन्तु यह नाटक वारहवीं शती ख्रीष्टाब्द का है। अतएव दिङ्नागाचार्य के निश्चित रूप से पूर्ववर्ती होने के कारण इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता कि उन्होंने प्रह्लादन देव का अनुकरण किया होगा; प्रत्युत् प्रह्लादन देव ने कुन्दमालाकार या शारिपुत्रकार (अश्वघोष का) निःसंशय ही अनुकरण किया है। इन सबसे लगता है कि दिङ्नागाचार्य भास के अधिक समीप थे, उनसे विशेष प्रभावित थे और इस प्रकार उनकी कुन्दमाला को प्राचीन होना चाहिये, विशेषतया भवभूति की तुलना में।

८. यदि कृतित्व के कालानुक्रम के अनुसार संवर्धन की बात पर विचार किया जाय, तो छः अंकों की कुन्दमाला और सात अंकों के उत्तररामचरित में बहुत कुछ उसी सम्वन्ध का आभास मिलता है जो भास के चार अंकोंवाले चारुदत्त और शूद्रक के दस अंकोंवाले 'मृच्छकटिक' में दिखाई पड़ता है। नाटक की अन्य बातों से भी ऐसा लगता है (जैसे दोनों में प्रथम और द्वितीय

अंकों के बीच १२ वर्ष का व्यवधान) कि भवभूति ने दिङ्नागाचार्य से प्रेरणा प्राप्त की थी। दिङ्नागाचार्य के कथानक-ग्रथन का कौशल और चारुता ऐसी है, जो समस्त संस्कृत-साहित्य में अनुपम है। संस्कृत का कोई भी नाटककार इसकी तुलना नहीं कर सकता। अतएव इस बात का प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि उन्होंने भवभूति से कुछ लिया होगा और उनसे प्रेरणा प्राप्त की होगी।

९. कुन्दमाला में प्रयुक्त प्राकृत की प्रौढ़ता पर विचार कर उई महोदय ने 'दशपदार्थी' की भूमिका में उसे चौथी-पाँचवीं शती की प्राकृत सिद्ध किया है।

१०. रही यह युक्ति कि प्रकाण्ड तर्कशास्त्री सफल सहृदय काव्यकार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में तार्किक-प्रवर हर्ष और जयदेव का दृष्टान्त उद्धृत कर देना अलम् होगा। एक ने सुन्दर नैषधीय काव्य की रचना की है, दूसरे ने प्रसन्नराघव का प्रणयन किया है। प्रसन्नराघवकार के ही शब्दों में 'तदिहचन्द्रिकाचण्डातपयोरिव कवितार्किकत्वयोरेकाधिकरणनामालोक्य विस्मितोऽस्मि'।

सूत्रधार—क इह विस्मयः

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावतीभारती
तेषां कर्कशतर्कवक्ररचनोद्‌गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ता-कुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिताः
तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥

अर्थात् यहाँ चन्द्रिका तथा प्रचण्ड सूर्यरश्मि के समान कवि और तार्किक का एकत्र योग देखकर आश्चर्य होता है।

सूत्रधार—इसमें आश्चर्य क्या है?

जो कोमल काव्य-रचना में पटु हैं और जिनका हाव-भावमयी वाणी पर अधिकार है, उनका कटु और नीरस तर्क की बातों को प्रस्फुटित करने में

क्या घटता है ? जिन्होंने अपनी प्रेयसी के कुच में अत्यन्त आनन्द में विभोर होकर नखदान किया है क्या वे मत्त हाथी के मस्तक को अपने तीर से नहीं वेध सकते ?

इस मीमांसा से यही प्रतिपादित होता है कि वौद्ध तार्किक नाटककार दिङ्नागाचार्य एक ही व्यक्ति थे; और इससे भी निश्चित यह बात लगती है कि अवश्यमेव वे भवभूति के पूर्ववर्ती थे।

इस सम्वन्ध में एक बात और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मेघदूत के १४वें छन्द में जो दिङ्नाग शब्द आया है वह हमारे तार्किक और दिङ्नागाचार्य का वाचक नहीं है।

जीवनवृत्त—तत्त्वसंग्रह की भूमिका के अनुसार दिङ्नागाचार्य का जन्म काञ्ची (कांजीवरम्) के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। नागदत्त ने इन्हें पहले हीनयान में दीक्षित किया था और वात्सीपुत्रीय (सांमितीय) सम्प्रदाय के भिक्खु थे। तदनन्तर इन्होंने अपने पुराने सम्प्रदाय को छोड़कर वसुवन्धु का शिष्यत्व ग्रहण किया और महायान सम्प्रदाय की दीक्षा लेकर विज्ञानवादी हो गये। ये सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने तर्कशास्त्र को सम्यक् और सुव्यवस्थित विज्ञान का स्वरूप प्रदान किया। इन्हें शास्त्रार्थ करने में वड़ा आनन्द आता था और यह उस कला में पूर्ण निष्णात थे। न्याय विषय के इनके रचे हुए आठ ग्रन्थ वताये जाते हैं, जिनमें छः इस प्रकार हैं :—

१. न्यायप्रवेश, २. प्रमाण-समुच्चय, ३. हेतुचक्रहमरू, ४. प्रमाण-शास्त्र न्यायप्रवेश, ५. आलम्बन परीक्षा, तथा ६. त्रिकाल परीक्षा।

परन्तु कुन्दमाला की स्थापना में इन्हें अरारालपुरवासी कहा गया है। अभी तक यह नहीं निर्धारित हो पाया है कि यह अरारालपुर किस वर्त्तमान नगर या स्थान का द्योतक है। नाटक के सर्वप्रथम सम्पादक-द्वय राम-कृष्ण कवि और रामनाथ शास्त्री के मतानुसार लंका के अनुराधपुर को ही

लिपिकार ने प्रमादवश अरारालपुर अंकित कर दिया है। इस प्रकार ये लंकावासी सिद्ध होते हैं।

अभी तक के ज्ञात तथ्यों के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि तत्त्वसंग्रह की बात यथार्थ है या कुन्दमाला की। पर इतना तो सिद्ध है कि यह दक्षिण के निवासी थे।

संक्षिप्त कथानक

अंक १—लोकापवाद की सूचना पाकर राम ने लक्ष्मण को अपनी गर्भवती पत्नी सीता को गंगातट पर छोड़ आने का आदेश दिया। राजाज्ञानुसार लक्ष्मण द्वारा वन में असहाय छोड़ दिये जाने पर भगवान् वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में ले आये।

अंक २—यहीं सीता के गर्भ से कुश और लव नाम के दो बालकों का जन्म हुआ। कालक्रम से वाल्मीकि की देख-रेख में उन्होंने रामायण-गान में परम प्रवीणता प्राप्त की।

जब राम ने नैमिषारण्य में अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया तो उन्होंने वाल्मीकि प्रभृति महर्षियों को उनके शिष्यों सहित उसमें आमन्त्रित किया। सखी वेदवती के समक्ष अपने दाम्पत्यप्रेम को प्रकाशित करती हुई पति-वियोग में दुःखी सीता भी राम के दर्शन के निमित्त नैमिषारण्य जाने के लिये उद्यत हुईं।

अंक ३—मुनि वृन्द के साथ सीता भी अपने पुत्रों सहित गोमती-तीरस्थ नैमिषारण्य में पहुँची। राम-लक्ष्मण भी वहाँ पहुँच चुके थे। वहाँ वाल्मीकि के आश्रम की ओर बढ़ते हुए उन्होंने नदी की धारा में बड़े ही दिव्य और मनोरम ढंग से गुँथी हुई कुन्दमाला बहती देखी। राम ने उसकी ग्रथनकुशलता देखकर सोचा कि ऐसी माला तो केवल सीता ही बना सकती थीं। इस प्रकार अपनी प्रियतमा की सुधि आने पर वह अत्यन्त विलाप करने लगे। पदचिह्नों के सहारे आगे बढ़ते हुए लक्ष्मण इस निष्कर्ष

पर पहुँचे कि उक्त आश्रम में सीता भी विद्यमान हैं। जब वे आश्रम में पहुँचे तो छिप कर खड़ी हुई सीता ने भी उन्हें देखा और उनका हृदय वर्णनातीत विषाद से भर उठा। इसी घटना के आधार पर नाटक का नामकरण हुआ है।

अंक ४—रामायण-गान सुनने के लिए अप्सरा तिलोत्तमा भी वाल्मीकि के तपोवन में आई थी। उसने अपनी माया से सीता का रूप धारण कर राम के सीता-प्रेम की परीक्षा लेने की सोची और उसके लिये उपक्रम करने लगी; परन्तु मुनि-कन्या और सीता की सखी वेदवती ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। राम के विदूषक ने तिलोत्तमा के उक्त चपल संकल्प की बात छिप कर सुन ली थी। मुनि-प्रभाव के कारण अदृश्य होने से सीता उस आश्रम की बावली के तीर पर ही दिन भर पड़ी रही और राम-लक्ष्मण उन्हें न देख पाते थे। इस यज्ञ के धुएँ के कारण राम की आँखें दुखने लगीं और वे उन्हें धोने के लिये बावली में पहुँचे। यद्यपि राम को सीता न दिखाई पड़ीं; किन्तु उन्होंने जल में पड़े हुए उनके प्रतिबिम्ब को देख लिया। इससे वे बड़े आश्चर्य में पड़ गये कि यहाँ सीता आईं कैसे? इसी बीच सीता वहाँ से हट गईं और जल से उनकी परछाईं भी विलीन हो गयी। इससे राम को असह्य दुःख होने के कारण मूर्च्छा आ गई। सीता ने राम को मूर्च्छित देखकर पास जाकर उनका आलिंगन किया और उन्हें संज्ञा आते ही वहाँ से हट गईं। इस पर राम को पुनः मूर्च्छा आ गई। उन्हें स्वस्थ करने के लिये सीता उन्हें उत्तरीय के छोर से पंखा करने लगीं। संज्ञा आने पर राम ने सीता का उत्तरीय पकड़ लिया और सीता ने उसे छोड़ दिया। राम ने वनदेवता द्वारा सीता को दिये हुए उस वस्त्र को भलीभाँति पहचान लिया और तब उनका यह विश्वास और बढ़ चला कि सीता कहीं पास में ही विद्यमान हैं। राम ने उस उत्तरीय को ओढ़ लिया और अपना फेंक दिया। सीता राम के उत्तरीय को लेकर वहाँ से हट गईं। तब तक विदूषक राम के पास आ पहुँचा और उस सारे वृत्तान्त को सुन कर कहने लगा कि यह सब चपल तिलोत्तमा का परिहास मात्र है।

अंक ५—राम और विदूषक सीता के विषय में सोच-विचार कर रहे थे तब तक रामायण-गान करने के लिये कुश और लव उनके पास आ पहुँचे। उनके अपूर्व सौंदर्य और बालभाव को देख राम के हर्ष और विस्मय की सीमा न रही। उन्होंने दोनों बालकों को अपनी गोद में सिंहासन पर बैठा लिया। ऐसा प्रसिद्ध था कि यदि उस सिंहासन पर रघुवंश के लोगों को छोड़ कर कोई चढ़ेगा तो उसका सिर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। इस बात के स्मरण आते ही विदूषक ने कुश-लव को तुरन्त सिंहासन से उतार देने के लिये राम से कहा। पर सिंहासनासीन होने पर भी दोनों बालकों का बाल भी बाँका न हुआ। इससे राम और विदूषक बड़े आश्चर्य में पड़ कर उनसे उनका और उनके माता-पिता का नाम आदि पूछने लगे। उन्होंने अपनी माँ का नाम देवी और वधू तथा पिता का नाम निरनुक्रोश बताया। इन सब बातों को सुन कर राम और भी प्रभावित हुए और उन्होंने अपने पार्षदों आदि सभी लोगों को रामायण-गान सुनने के लिए आमन्त्रित किया।

अंक ६—सीता सम्बन्धी पदों को सुन कर राम-लक्ष्मण को नितान्त विस्मित होते देख कर कुश-लव ने समझ लिया कि वे ही रामायण के नायक थे। पर वे अभी तक अपनी माता का नाम सीता और अपने पिता का नाम राम न जान पाये थे। सीता-परित्याग तक की कथा का गान करके वे चुप हो गये क्योंकि आगे का इतिवृत्त उन्हें विदित नहीं था—वह नहीं जानते थे कि सीता जीवित हैं या उनकी मृत्यु हो गई। जब आगे की करुण कथा कण्व सुनाने लगे तो चारों रघुवंशी शोकाकुल होकर मूर्च्छित हो गये। जब चेतना आई तो राम अपने प्रति सीता के औदासीन्य के विषय में उपालम्भ देने लगे, तब तक भगवान् वाल्मीकि आ पहुँचे और निष्कलंक सीता के परित्याग की बात लेकर राम पर ही रोष प्रकट करने लगे। फिर स्वयं विश्वम्भरा पृथ्वी उपस्थित हुईं और वह सीता के चरित्र को समग्र जनता के समक्ष सब प्रकार से निर्मल और पवित्र घोषित कर तिरोहित हो गईं। प्रजा ने सीता के प्रति परम आदर अभिव्यक्त किया

और राम ने उन्हें पुनः ग्रहण कर यज्ञ में अपनी सहचरी बना लिया। वत्सल वाल्मीकि ने कुश को सिंहासन पर बैठाया और लव को युवराज बना दिया।

नामकरण

दिङ्नागाचार्य का नाटक का 'कुन्दमाला' नामकरण अत्यन्त मधुर तथा भावना-भव्य (रोमाण्टिक) है। वह अपनी गूँज की मसृणता से हृदय के तारों को अपने प्रथम परिचय के क्षणों में ही एकदम छू लेता है। वह उनकी अपूर्व उद्भावना-शक्ति का भी परिचायक है। किन्तु भवभूति का 'उत्तररामचरित' नामकरण सर्वथा चर्वित-चर्वण और इतिवृत्तात्मक है। वह कोई उत्कण्ठा या कौतूहल एकदम नहीं उत्पन्न करता क्योंकि रामकथा युगों से अतिशय प्रख्यात है।

कालिदास भी इस बात में दिङ्नागाचार्य से पीछे रह गये हैं। नामकरण की इस मनोहारिता में कदाचित् संस्कृत के कुछ इने-गिने नाटक ही कुन्दमाला की समता कर सकते हैं—यथा शूद्रक का परम मनोज्ञ नाटक 'मृच्छकटिक' वा भट्टनारायण का 'वेणीसंहार'।

कथावस्तु

कुन्दमाला इतिहास प्रख्यात कथावस्तु के आधार पर लिखा गया नाटक है। इसकी कथा वस्तु का प्रमुख उद्गम वाल्मीकि रामायण के उत्तर-काण्ड के ४३वें से ४९वें तक के सर्ग तथा ९३वें से ९८वें तक के सर्ग हैं। नाटक प्रणयन के समय सम्भवतया रघुवंश और रामायण-मंजरी भी नाटककार के सम्मुख रही होगी। पर इस परम्परागत कथानक को नाटककार ने ज्यों-का-त्यों नहीं ले लिया है। उसने उसमें परम उद्भावनापूर्ण परिवर्तन किये हैं जिससे समस्त नाटक में बड़ी रोचकता, सजीवता, स्फूर्ति, जगमगाहट, प्रभविष्णुता और अनूठी नवीनता तथा टटकापन आ गया

है। यह उसकी प्रतिभा का परिचायक है। सबसे बड़ी प्रशंसनीय बात यह है कि उसने जिन नई उद्‌भावनाओ का समावेश किया है वे पूर्णतया भारतीय संस्कृति और अति प्राचीन उपाख्यानात्मकता और वातावरण पर आधारित हैं।

दिङ्नागाचार्य ने कथानक में पाँच सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन और नई अवतारणायें की हैं :—

१. कुन्दमाला का इतिवृत्त और उनकी पहचान।

२. पदचिह्नों का निरीक्षण, विश्लेषण तथा पहचान।

३. तिलोत्तमा की अवतारणा तथा उसके परिहासोपक्रम एवं तदनुवर्त्ती वृत्त को अति कौशलपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना।

४. रामाख्यान में विदूषक की अवतारणा।

५. नाटक को सुखान्त बनाना।

तृतीय अंक में कुन्दमाला का संकीर्तन और उसकी पहचान तथा आगे चलकर रमणी-पद-चिह्नों का निरीक्षण और उनका अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से अभिज्ञान आर्थर कॉनन डायल के 'शरलॉक होम्स' की कथाओं की रचना-प्रक्रिया का स्मरण दिलाता है। किन्तु कुन्दमाला में इस प्रक्रिया का बड़ा उदात्त, गम्भीर और संयत स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। (पदचिह्नों की पहचान की प्रायः इसी भाँति की चर्चा विक्रमोर्वशीयम् (अंक ४) छन्द १६ में भी आई है।)

चतुर्थ अंक में तिलोत्तमा के राम को प्रवंचित करने के उपक्रम के वृत्त को कथावस्तु के सूत्र में इस चातुर्य से गूँथा गया है कि दर्शक या पाठक को अन्त तक यह निश्चित पता नहीं चल पाता कि वास्तव में राम को प्रवंचित करनेवाली घटना घटी या नहीं, राम-सीता का व्यवधानात्मक मिलन हुआ अथवा तिलोत्तमा ने सीता का रूप धारण कर राम को छल लिया था? जब पाठक अपनी तर्कबुद्धि और सभी बातों के पूर्वापर सम्बन्ध

में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है तभी जाकर उसकी समझ में आता है कि वस्तुतः राम और सीता का मिलन हुआ था। कथानक के परम रमणीय और कुतूहलपूर्ण निर्वहण में दिङ्नाग ने कथानक-ग्रथन की उत्कृष्ट प्रतिभा और निपुणता का परिचय दिया है। नाटककार का यह कला-नैपुण्य समग्र संस्कृत-साहित्य में अप्रतिम है। इस बात में कालिदास भी दिङ्नागाचार्य से पीछे रह जाते हैं। दिङ्नाग का यह कथानिरूपण-कौशल बर्नार्ड शा के 'आर्मस ऐण्ड दि मैन', 'मैन ऐण्ड सुपरमैन' और 'दि डॉक्टर्स डिलेमा' के कथानक-ग्रथन की विचक्षणता से भी बढ़ जाता है। कम-से-कम इस दृष्टि से दिङ्नाग को शेक्सपीयर से भी अधिक सफलता मिली है।

दर्शक के मन में तिलोत्तमा की प्रवंचना के सम्बन्ध में जो उलझन और कुतूहल उत्पन्न होता है, उसके चरमोत्कर्ष में अधोलिखित पंक्तियों ने चार चाँद लगा दिये हैं :—

राम :—(उत्तरीयमवलोक्य) कथमुत्तरीयमपि निर्मितमतिमायाविन्या। अहो ! परवञ्चनायामतिमहन्नैपुण्यम् ।

विदूषक :—भो वयस्य विलक्षमुख इव पश्यसे । किं तया वञ्चितोऽसि ?

राम :—वञ्चितः कृतोऽस्मि ।

विदूषक :—किं मया श्रुतं रहस्यमन्यथा भवति ?

शास्त्रीय दृष्टिकोण से समस्त नाटक में केवल एक ही कथावस्तु का प्रयोग किया गया है जो 'आधिकारिक' श्रेणी के भीतर आती है।

कालिदास आदि कवियों के अनुसार सीता राम के आदेश से लक्ष्मण द्वारा वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा दी गई थीं। परन्तु दिङ्नाग और भवभूति दोनों ने ही उन्हें वन के बीच असहाय छुड़वा दिया है। इससे नाटक की रस-निष्पत्ति में बड़ी सहायता मिली है और करुण-रस एकदम तीव्र हो उठा है।

कथावस्तु के प्रक्षालन, निबन्धन और क्रमिक विकचीकरण पर समाहार रूप से भी विचार करने पर दिङ्नाग की उत्कृष्ट सफलता ही परिलक्षित

होती है। दिङ्नागाचार्य का कथानक वहुत कसा हुआ है। उसमें कहीं अनावश्यक वातों के समावेश से शैथिल्य नहीं आ पाया है जैसा कि भवभूति के उत्तररामचरित में दृष्टिगोचर होता है, जिसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि यदि उत्तररामचरित में नाटककार ने द्वितीय और पंचम अंक न भी रक्खा होता और उसमें केवल पाँच अंक रहे होते, तो भी उसके साहित्य-सौष्ठव में रंचमात्र भी कमी न आ पाती।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

लोक-संग्रह विधायिनी और आदर्श की प्रतिष्ठा करनेवाली कथावस्तु के अनुरूप ही नाटक की पात्रयोजना है। धीरोदात्त नायक और आदर्श स्वीया नायिका का चरित्र-चित्रण सर्वत्र एक दूसरे के आदर्शों को और उन्मीलित और दीप्त करनेवाला है। अन्य पात्र भी उन्हीं के पूर्ण सांमजस्य में अत्यन्त शालीन, उदार तथा शील और सदाचार युक्त रक्खे गये हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि तिलोत्तमा और विदूपक की अवतारणा दिङ्नागाचार्य की अपनी विशेषता है। यद्यपि विदूषक की परिपाटी संस्कृत नाटकों में वहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी; किन्तु भवभूति को उत्तररामचरित में उसकी अवतारणा की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई थी।

एक प्रकार से देखा जाय तो चपल अप्सरा तिलोत्तमा और विदूषक कुन्दमाला में दो विदूषक सदृश उपस्थित होते हैं जैसा किसी अन्य संस्कृत नाटक में कदाचित् ही मिलेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक की आद्ययोजना के अनुसार तिलोत्तमा की अवतारणा में दिङ्नाग को विदूषक के चरित्र को और उत्कर्ष, तीव्रता और प्रभविष्णुता प्रदान करना अभीष्ट था।

तिलोत्तमा का चरित्र वहुत संक्षिप्त अंकित किया गया है। दूसरे केवल उसकी चपलता, कार्य-कुशलता तथा प्रवंचन-शीलता एवं मायावीपन की ओर इंगित मात्र करके रह जाते हैं।

दिङ्नाग का विदूषक राजा के सहचर या परिचारक के रूप में ही हमारे सम्मुख उपस्थित होकर रह जाता है। उसमें भास और कालिदास जैसे हृदय की कली खिला देनेवाले और आलोड़नकारी हास्य की तरंगावली का सर्वथा अभाव है। कदाचित् तार्किक नाटककार को जीवन के कौशेय और सरसपक्षों की पकड़ तो पर्याप्त अच्छी हो पाई थी और उसकी व्यंजना में उसे सफलता भी हाथ लगी थी, किन्तु तर्कजाल में उलझा हुआ मस्तिष्क हृदय के अन्य कोनों में—यथा हास्य की चपलता एवं उन्मुक्त वातावरण में न उतर सका। अतएव उसकी व्यंजना और उसके माध्यम चरित्र के रूपायन में रसोन्मेष की कली भी न लग पाई।

विदूषक का पंचम अंक में रंगमंच पर रोना कुछ सुन्दर नहीं प्रतीत होता। कालिदास और भास में उसका रोदन कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों ने विदूषक का जैसा हृदयहारी और सफल प्रयोग किया है, उसकी आशा तो हमें दिङ्नाग से कहीं हो ही नहीं सकती, प्रत्युत वात एकदम उलटी हुई है और कुन्दमाला का प्रणेता दर्शकों के अधरों पर स्मित का भी स्फुरण करने में सर्वथा असमर्थ हुआ है। हृदय में वह हास्य की चिकोटी भी नहीं काट सका है।

कुन्दमाला का नाटककार भास की नाईं सरल हृदय व्यक्ति था। उसने कालिदास और भवभूति की भाँति पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सूक्ष्म मनोवृत्तियों के निरूपण के लिये न तो कोई विशेष प्रयत्न किया है और न उसे अतिशय सफलता ही मिल पाई है। नाटक के लिये सामान्य रूप से अपेक्षित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोवृत्तियों के अध्ययन और अंकन में ही उसके इस कार्य की इतिश्री हो गई है और उसी से उसने सन्तोष भी कर लिया है। इसलिए चरित्र-चित्रण में भव्य कल्पना की उड़ान तथा आह्लादकर सूक्ष्मता की कमी स्पष्ट झलकती है।

नाटक की उत्कृष्टता और सफलता के लिये उसके कथोपकथन में तत्त्वतः तीन गुणों की परमावश्यकता होती है—प्रसाद गुण, कुतूहल तथा वाक्चातुरी।

कुन्दमाला के प्रसाद गुण पर उसकी भाषा और शैली के विवेचन में आगे प्रकाश डाला जायगा। यहाँ केवल इतना कह देना अलम् होगा कि उसके कथोपकथनों में सर्वत्र हृदय से तुरन्त तादात्म्य स्थापित कर लेने-वाली सरलता और स्वाभाविकता पाई जाती है। किसी भी पात्र की उक्ति का कोई भी वाक्य या पद ऐसा न होगा जिसमें तनिक भी संदिग्धार्थता वा अस्पष्टता हो। उसके कथोपकथनों में अश्लीलता या अभद्रता की कहीं रंचमात्र भी गन्ध नहीं आती। वे पूर्णतया सुरुचि तथा परिष्कृत और संभ्रान्त आचार के द्योतक हैं। अमंगलता का भी उनमें लेश न मिलेगा। ये कथोपकथन रामायणकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक बातों का अविकल प्रतिनिधित्व करते हैं। नाटक के कथोपकथन केवल सूचना देने-वाले वाक्य नहीं होते। उन्हें कथानकोन्मीलन के साथ-साथ रसानुभूति के माध्यम का भी काम करना पड़ता है। इस दृष्टि से कुन्दमाला के प्रथम और अंतिम अंक विशेष सम्मोहन उत्पन्न करनेवाले हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ अंक का स्थान आता है।

जहाँ तक कुतूहल और नाटकीय उत्कण्ठा बनाये रखने का प्रश्न है, इस गुण में कुन्दमाला की संवाद-योजना सचमुच अप्रतिम है। इस विशेषता का चतुर्थ अंक में चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। शनैः शनैः कथा का विकचीकरण संपादित करता हुआ नाटककार जब चतुर्थ अंक के अन्त में पहुँचता है तो विदूषक और राम के कथोपकथन के दो वाक्यों ("वि०— भो वयस्य ! विलक्षमुख इव दृश्यते, किं तया वञ्चितोऽसि, वि०—किं मया श्रुतं रहस्यमन्यथा भवति") में कुतूहल की वह पीयूषधारा बहा जाता है, जिसकी मधुर अजस्रता नाटक पढ़ और देख लेने के पश्चात् भी हमारे व्यक्तित्व को अभिषिक्त किये रहती है।

कुन्दमाला की संवाद-योजना में शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयम्, मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस की वाक्चातुरी के दर्शन नहीं होते। तब उनमें अन्तर्द्वन्द्वों को अभिव्यक्त करनेवाली आधुनिक ढंग की अराल-श्लेष-विन्यासवती वाणी

के कौशल की और अपेक्षा न करनी चाहिये और न मिलती ही है। कथोपकथन का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। सीता प्रथम अंक में कहती हैं :—"तथा ममवचनात्तं जनं विज्ञापय"।

यहाँ सीता राम का अपने पति रूप में संकीर्तन नहीं करतीं प्रत्युत उन्हें 'जन' नाम से अभिहित करती हैं। स्वयं महिषी होने के कारण उन्हें अभी तक सम्राट् की उपाधि से नहीं विभूषित किया गया है; किन्तु आगे के वाक्य में उन्होंने राम को 'महाराजम्' कह ही दिया क्योंकि उन्हीं की आज्ञा से तो उनका निर्वासन किया गया था ?

दिङ्नागाचार्य और उनकी 'कुन्दमाला'-२

'कुन्दमाला' में इसिहास-प्रख्यात कथावस्तु, धीरोदात्त नायक और पंचसंधियों का प्रयोग किया गया है। इसमें छः अंक हैं। अतएव शास्त्रीय दृष्टि से यह रूपक नाटक है। नान्दी प्रस्तावना प्रवेशक तथा भरत वाक्य इसके अन्य सामान्य लक्षण हैं।

ग्रीक-नाटच-शास्त्र की भाँति संस्कृत नाटक में (देश वा स्थान, काल तथा कार्य की) अन्वितित्रयी नाम की कोई वस्तु नहीं। संस्कृत साहित्य के ही नहीं अपितु संसार के सभी महान् नाटककारों ने इसका अनुपालन नहीं किया है। दिङ्नागाचार्य भी इस परम्परा के अपवाद नहीं हैं। हाँ, कार्यान्विति (unity of action) नाटक का मूल आधार होती है, दिङ्नागाचार्य ने इसका सम्यक् निर्वाह किया है, जो कोई विशेष बात नहीं क्योंकि सभी संस्कृत नाटकों में उसका अनिवार्यतः पालन किया गया है।

कुन्दमाला में दो स्थलों में विचित्र स्खलितियाँ वा असंगतियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। नाटककार ने गोमती के तीर पर नैमिषारण्य में सीता का गंगा में स्नान करने का उल्लेख किया है (अंक ३)। इस प्रकार दीर्घिका-जल में पड़े हुये प्रतिविम्ब द्वारा उसने मुँह के पीलापन का ज्ञान होने की बात कही है (अंक ४, छंद १३) जो सर्वथा युक्तिहीन और असम्भव है।

रस-निष्पत्ति—कुन्दमाला में करुण प्रधान रस है। विप्रलंभ शृंगार उसका सहायक और गौण रस है।

रस-निष्पत्ति और नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से कुन्दमाला का प्रथम अंक सबसे सुन्दर है। कारुणिक परिस्थितियों, वर्णनों तथा कथोपकथनों से सारा का सारा अंक एकदम अभिभूत तथा आर्द्र है। षष्ठ अंक में भी प्रथम अंक की भाँति ही रसनिष्पत्ति बहुत अच्छी हुई है!

वन में विषम और कण्टकाकीर्ण पथ पर सँभाल-सँभाल कर चलने के लिए लक्ष्मण गर्भ-गुर्वी सीता से कितने करुणोत्पादक तथा हृदयद्रावक शब्दों में कहते हैं—

वामेन नीवार-लतां करेण
जानुं समालम्ब्य च दक्षिणेन।
पदे पदे मे पदमादधाना
शनैः शनैरेतु मुहूर्तमार्या॥

आगे पशु-पक्षी तथा प्रकृति को करुण रोदन करते हुए देखकर उनकी वाणी क्रन्दन कर उठती है—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोक-विधुरा करुणं रुदन्ति।
नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥

सीता-परित्याग के प्रसंग में कालिदास रघुवंश (सर्ग १४, छंद ६९) में अपार करुणा और विषाद उत्पन्न करते हुए कहते हैं—

नृत्यं मयूरा कुसुमानि वृक्षाः
दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावम्
अत्यन्त मासीद्रुदितं वनेऽपि।

पर स्पष्ट है कि दिङ्नागाचार्य की भारती में करुण रस की निष्पत्ति कालिदास की उपर्युक्त पंक्तियों से कहीं अधिक मर्मस्पर्शी हुई है।

राम के विप्रलम्भ-वर्णन में दिङ्नाग करुण रस का उतना सजीव और हृदय में टीस उठानेवाला वर्णन नहीं कर पाये हैं, जितना परिस्थितियों, नाटक-सौष्ठव और रस-निष्पत्ति के दृष्टिकोण से वांछनीय और संभावित था।

संसार के सभी मूर्धन्य नाटककार (शेक्सपीयर, गेटे, कालिदास, भवभूति, रवीन्द्र) प्रथमतः सफल कवि थे। दिङ्नागाचार्य भी इस कथन के अपवाद न थे। कुन्दमाला में श्रुतियों और लोचनों दोनों को ही दृश्यकाव्यगत पूर्ण आनन्दोपलब्धि होती है।

अभिनयशीलता—अभिनयशीलता की दृष्टि से भी यह नाटक बहुत उत्कृष्ट और सफल है। अलौकिक पात्रों वा पदार्थों का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। मूर्त पृथ्वी एक अलौकिक पात्र अवश्य है; किन्तु उसका प्रयोग इस ढंग से किया गया है कि उससे नाटक की अभिनयशीलता में तनिक भी अस्वाभाविकता या कठिनाई नहीं उत्पन्न होने पाती। भवभूति में काव्यत्व अधिक आ गया है, इससे उत्तररामचरित की अभिनयशीलता को अवश्य कुछ आघात पहुँचा है। परन्तु दिङ्नागाचार्य में काव्यत्व के होते हुए भी अभिनयशीलता को तनिक भी आँच नहीं पहुँचने पाई है अथवा उनमें दोनों का बड़ा मनोहारी सामंजस्य सम्पन्न हुआ है। समस्त कुन्दमाला पढ़ने के अनंतर किसी निष्पक्ष आलोचक को इस बात पर आपत्ति न होगी कि कदाचित् अभिनयशीलता में दिङ्नाग कालिदास से भी एक पग आगे दृष्टिगोचर होते हैं।

कुन्दमाला के प्रथम अंक में बड़ी रुचिर नाटकीय वेगशीलता दृष्टिगोचर होती है।

सूत्रधार :—लंकेश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवाद भयाकुलेन।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्।

लक्ष्मण :—इतो इतोऽवतरत्वार्या।

इन पंक्तियों में आधुनिक चित्रपट की वेपथुमती गतिशीलता तथा नर्तनशील प्रकाश-छवि के दर्शन का-सा रस आता है।

कहीं-कहीं नाटकीय चेष्टाएँ भी बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। उनमें मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है— नाटककार ने उनमें बड़ा ही रमणीय चित्र और वातावरण उपस्थित किया है। अन्त में संयोग के समय लज्जा के कारण राम वाल्मीकि के सम्मुख किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सिर खुजलाने लगते हैं तब वाल्मीकि उसे भाँपते हुए कहते हैं—

"वत्स............गृहाण कुशलवौ, गच्छावः स्वमाश्रमपदम्" (अंक ६, पृष्ठ १८६)

प्रकृति चित्रण—सामान्य रूप से यह कहना अ-समीचीन न होगा कि दिङ्नाग की प्रकृति प्रमुखतया केवल मानव-व्यापारों की सहायिका मात्र है। उन्हीं के रूपायन में उसका जितना सौन्दर्य पुंजीभूत और निदर्शित हो सका है; दिङ्नाग ने उसी से सन्तोष किया है। नाटककार ने प्रकृति के मानवीकरण की पद्धति का भी नितान्त हृदयहारी प्रयोग किया है। ऐसा सामान्य वर्णन के लिये भी किया गया है और मानव-मनोभावों के साथ प्रकृति की सापेक्षता के निदर्शन के लिये भी।

आस्वादन के लिये दोनों प्रकार की द्राक्षामाधुरी क्रमशः उपस्थित की जा रही है। प्रथम प्रकार का मंजुल रूपायन अधोलिखित दो छन्दों में स्पष्ट लक्षित होता है। लक्ष्मण सौरभविकीरक रमणी रूपा गोमती का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मरकत हरितानामम्भसामेकयोनि
मदकलकल हंसी गीतरम्योपकण्ठा।
नलिनवनविकासै वासयन्ती दिगन्तान्
नवनव पुरस्तात् दृश्यते गोमतीयम् (अंक ३, छंद ५)

दिशाओं के सुवासित मुख के सम्बन्ध में कण्व ऋषि का कण्ठ निनादित हो उठता है—

सुरभिकुसुमगन्धै र्वासिताशामुखानाम्''' (अंक ४, ३)

प्रकृति वर्णन के इस काव्यत्व में कालिदास, शेक्सपीयर, शेली और कीट्स की मधुरता और रागात्मकता का आनन्द आता है। इसी प्रकार के मानवीकरण का अध्यवसित रूप और उसकी रुचिर श्री लक्ष्मण द्वारा गाये हुए पाँच छंदों में स्पष्ट अभिव्यक्त है—

जातश्रमां कमलगंधकृताधिवासैः
काले त्वमप्यनुगृहाण तरंगपातैः।
देवी यदा च सवनाय विगाहते त्वाम्
भागीरथि प्रशमय क्षणमम्बुवेगम् ॥२२॥

एषाऽञ्जलिर्विरचितो वनदेवतानां
विज्ञापनां क्षणमिमावधारयन्तु।
सुप्ता प्रमादवशगा विषमस्थिता वा
यत्नादियं भगवतीभिरवेक्षणीया ॥२४॥

भो भो हिंस्रा भूमिरेषाभवद्भिः
वर्ज्या देशो न प्रविश्यः परेषाम्।
मृग्यो मृग्यो विप्रवासे सखीनां
यूयं सख्यो मक्षणं मुञ्चतैनाम् ॥२५॥

सख्यो नद्यः स्वामिनो लोकपालाः
मातर्गङ्गे भ्रातरः शैलराजाः।
भूयो भूयो याचते लक्ष्मणोऽयम्
यत्नाद्रक्ष्या राजपुत्री गतोऽहम्।

इनमें शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के छन्दों के संगीत की मन्द मन्द गुंजन भली-भाँति सुनी जा सकती है।

इस सन्दर्भ में एक और छन्द की पुनरावृत्ति करने का लोभ संवरण नहीं हो रहा है—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति।
नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः।

प्रकृति के स्वाभाविक वर्णन में भी यत्र-तत्र दिङ्नाग की लेखनी ने तूलिका का काम किया है। हृदय की ऋजुता से परिप्लुत वन-प्रान्त की संध्या का इससे अभिराम और प्राणस्पन्दित वर्णन क्या हो सकता है—

सीता—"वत्स! आसन्नास्तमयः सूर्यः, दूरे चेतो मानुपसंपातः। उड्डीना पक्षिणः। सञ्चरन्ति श्वापदाः। गच्छ न युक्तं परिलम्बितुम्।" (अंक १)

सूक्ष्म के माध्यम से स्थूल के वर्णन में दिङ्नागाचार्य ने प्रकृति की अपूर्व कौशेयता की पकड़ का वहुत श्लाघनीय परिचय दिया है। पेशल-क्षौम उत्तरीय की मनोमुग्धकारिता को मूर्त करने में वे जैसे न्योछावर हो गये हैं—उसे ज्योत्स्ना की ललित केंचुली कहते हैं—

गगन तलाद् गलितं ज्योत्स्ना निर्मोकललितमिदम्।

कालिदास भी कैलाश के रजतशिखर को (पूर्वमेघ, छन्द ६२) शंकर का पुंजीभूत अट्टहास समझते हैं—

खंराशीभूतः प्रतिदिनमिवत्र्यम्बकस्याट्टहासः

जलधारा में टेढ़ी-मेढ़ी गति से बहती हुई कुन्दमाला के वर्णन में प्रकृतिगत सुकुमारता का समावेश वे इस प्रकार करते हैं—

इऽयमपि कुरुते तरंगमध्ये भुजगवधूललितानि। कुन्दमाला, अंक ३-७

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की "सिखा दो ना हे मधुपकुमारि" (मधुकरी 'पल्लव' में) पंक्ति की तुलना 'भुजग वधू ललितानि' से कीजिये। शेली और कीट्स की भी यह अपनी वैयक्तिक विशेषता है।

कुन्दमाला में उत्तररामचरित जैसा प्रकृति का स्वतन्त्र और संश्लिष्ट चित्रोपम अंकन प्रायः एकदम न मिलेगा। उसमें उत्तरचरित की भाँति प्रकृति के उदात्त और गरिमाशाली रूपों का समावेश भी प्रायः नहीं के बराबर है। केवल एक स्थल पर दिङ्नाग ने इसके लिये चेष्टा की है, और उसमें उन्हें अच्छी सफलता भी मिली है। मंच पर पृथ्वी के प्रकट होने के समय किस प्रकार सारे स्थावर जंगमों में—समस्त विश्व में अद्भुत निस्तब्धता और शान्ति छा जाती है, कवि उसका शब्द-चित्र इस भाँति उपस्थित करता है—

उदन्वन्तः शान्ताः स्तिमिततरकल्लोलवलया
निरारम्भो व्योम्नि प्रकृतिचपलोऽप्येपपवनः।
प्रवृत्ता एतस्मिन्निभुततरकर्णागजघटा
जगत्कृत्स्नं जातं जनकतनयोक्तावनहितम् ॥२३॥ अंक ६

तदनन्तर पृथ्वी के एकदम प्रकट होने के क्षणों में कुछ विचित्र अस्पष्ट भीषणता के वातावरण का बड़ा शालीन अंकन भावानुरूप स्रग्धरा छंद में अवलोकनीय है—

नादः पातालमूलात्प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योमरन्ध्रं
यानक्लिष्टाइवैते दिशिदिशि गिरयोमंदमंदाश्चरन्ति।
वद्धानन्दाः समन्ताल्लवणजलधयो मथ्यमाना इवासन्
सीमामुल्लंघ्य वेगांदुदनिधि सलिलैः स्वानिवेलावनानि
॥२४॥ अंक ६

प्रकृति सुन्दरी के साहचर्य में भूत के वातावरण, दूरी की झिलमिलाहट और सुधियों की इन्द्रधनुषी कादम्बिनियों के उदय की भी मंजुल रसानुभूति दिङ्नागाचार्य को बहुत कुछ हुई थी। उस स्वच्छंदतावादी एवं भावना-

भव्य (रोमाण्टिक) रूप और अतीत आह्लाद के निरूपण के दो स्थलों की पंक्तियाँ गुनगुनाये बिना नहीं रहा जाता—

किशलयसुकुमारं पाणिमालम्ब्य देव्या
विविधरतिसखीभिः सङ्क्याभिर्छिनान्ते ।
चरणगमनवेगान्मन्थरस्य स्मरामि
स्नुतपयसि तटिन्याः सैकते चङ्क्रमस्य ॥१२॥ अंक ३

चित्रकूट में अपनी प्रियतमा के साथ की हुई तारुण्य सुलभ चपलता का स्मरण कराते हुए राम के इस गीत से नैमिषारण्य की दीर्घिका-तीर की नीरवता मुखरित हो उठी है ।

अविदितमनुसृत्य चित्रकूटे
सुतनु सुमनोपचयाय निर्गता त्वाम् ।
कुसुममुपचितं विकीर्ण भूमौ
स्मरसि रसेन मया धृतं पटान्तम् ॥२१॥ अंक ४

किन्तु स्मृति के कोने में कल्पना के पंखों पर आरूढ़ प्रकृति-सम्पर्क-जन्य जिन उर्मिल तथा मधुर भावनाओं का उदय और पोषण होता है उनका उत्तरचरित जैसा अध्यवसित और आत्मा को तृप्त कर देनेवाला वर्णन दिङ्नागाचार्य नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं, जैसे वे उनका परिनिर्देश मात्र करके रह गये हैं । सुधी सहृदयों को कुन्दमाला पढ़ते वा देखते समय उत्तररामचरित की अधोलिखित पंक्तियाँ बलात् स्मरण आ ही जाती हैं—

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जु-मञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि ॥२३॥ अंक २

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे
यानि प्रिया सहचरश्चिरमध्यवात्सम् ।

एतानि तानि वहुनिर्झरकन्दराणि
गोदावरी परिसरस्य गिरेस्तटानि ॥८॥ अंक ३

एतत्तदेवकदलीवनमध्यवर्ति
कान्तासखस्य शयनीय शिलातलंते ।
अत्रस्थिता तृणमदादवहुशो यदेभ्यः
सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यतेस्म ॥२१॥ अंक ३

वैसे औत्सर्गिक रूप से यही कहा जा सकता है कि कुन्दमाला का काव्यकार प्रायः सदैव प्रकृति के स्वाभाविक और यथातथ्य वर्णन की परम रमणीय ऐहिक भूमि में ही रमता रह गया है। वह विक्रमोर्वशीय में कालिदास की भाँति और अंग्रेजी में शेली की भाँति कल्पना के रंगीन पंखों पर उड़ता हुआ सौन्दर्य-सर्जना में कहीं भी अतिशय उत्तुंगता का स्पर्श नहीं कर पाया है।

जीवन-दर्शन—राम-कथानक की प्रायः समस्त परम्परा ही आदर्श प्रतिष्ठा की भावना से ओतप्रोत है। अतः कथावस्तु का चयन ही इस बात की उद्‌घोषणा करता है कि नाटककार को आदर्श के उन्मीलन द्वारा ही लोकोत्तरानंदविधान वा नेत्रोत्सव संघटन अभिप्रेत था। परन्तु इस आदर्श प्रतिष्ठा से राम, लक्ष्मण, सीता, कुश-लव और वाल्मीकि सभी को मानवी और जनजीवन के अंग के रूप में अंकित किया गया है। चारों राघव और सीता हमारे समीप सदैव विद्यमान रहनेवाले व्यक्तियों में से चुने गए हैं। उनमें धर्मग्रन्थों की भाँति लोकोत्तर गुणों वा शक्तियों का आरोप नहीं किया गया है। उससे आरम्भ से ही यह स्वयमेव सिद्ध है कि कवि वा नाटककार एक सुपुष्ट, प्रौढ़, अनुसरणीय, तर्क-प्रतिष्ठ, तथा संसारियों के क्रिया-कलापों और आवश्यकताओं के अनुरूप जीवन-दर्शन लेकर चला है। उसने अपने जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने में अपार्थिव उपादानों की सहायता केवल एक (पृथ्वी के आगमन के) स्थल पर अपवाद की भाँति ली है। उसने आदर्श की प्रतिष्ठा के लिये सदैव यथार्थ को ही

अपना आधार चुना है। इस प्रकार वह जीवन के सर्वोत्तम पक्षों को उसके समग्र दर्शन को भवभूति की अपेक्षा अधिक सफलता से प्रस्फुरित कर सका है।

समस्त नाटक तत्कालीन वहुप्रतिष्ठित भारतीय परम्परा के अनुसार आश्रम-लालित, सौन्दर्यपूरित, संयम और जीवन-पद्धति तथा नगर की जन संमर्द सभ्यता, संस्कृति और शिष्टाचार के रंजनकारी और मांगल्य-विधायक सामंजस्य के लिये प्रयत्नशील हैं। प्राचीन काल में आश्रम आदर्श और जनसंकुल नगर-ग्राम सुन्दर यथार्थ के प्रतीक थे। आश्रम नागरिक-सभ्यता को यदा कदा अवसर-विशेष पर उसकी त्रुटियों, कालक्रम से उत्पन्न प्रामादिकताओं और दोषों को दूर कर सुधारते और सँवारते थे। लोकतंत्र की विडम्बना और विकृति को ठीक करने के लिए ही वाल्मीकि हमारे संमुख आते हैं।

दार्शनिक दिङ्नागाचार्य ने सत्य, शान्ति, अनुकम्पा और मर्यादावादिता की उपासना को ही सर्वोपरि दिखाया है। मर्यादा-पुरुषोत्तम इन गुणों और सिद्धांतों के पुरुष-प्रतीक तथा सीता उनकी शक्तिमती नारी प्रतीक हैं।

आस्तिकता की पंक्तियों (अंक १—छन्द १–२ तथा भरत वाक्य) का उच्चारण करते हुए भी वे कहीं भी स्पष्ट दैव वा नियतिवाद का प्रतिपादन करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। यद्यपि तीन चार स्थलों पर भाग्य (भागधेयः अंक १; मन्दभागिनी, अंक १, भागधेयम् अंक ३ में) का वहुत चलता परिनिर्देश अवश्य आया है। इसके विपरीत सीता के इन वचनों में कर्मवाद की स्पष्ट प्रतिष्ठा की गई है।

> किन्न खलु मया पापकृतं यस्येदानीमेव विरहं सर्वथा
> अनुभविताऽस्मि—अंक १

इनका व्यक्तिगत धर्म मान्यतायें और सिद्धान्त कुछ भी रहा हो पर रंगमंच पर इन्होंने वैदिक आस्था, श्रद्धा-प्रकृति के उपादानों (पवन

मातरिश्वा) की आराधना और ब्राह्मणिक देवी देवताओं का ही संकीर्तन प्रस्तुत किया है। कालिदास की भाँति उनकी रंगभूमि शैवोपासना की ओर विशेष उन्मुख है—

'पापाद्वस्तरुणारुणांशुककपिला शम्भोर्जटासंततिः'

भरत वाक्य में उन्होंने त्रिमूर्ति के संकीर्तन में सर्वप्रथम स्थाणु का नाम लिया है।

राजा और शासक के लिये उन्होंने लोकतन्त्र के कठोर सिद्धान्त के अनुपालन की ही बात का प्रतिपादन किया है। इसीलिये उन्होंने 'रंजनात् राजा' के प्रजारंजन वा लोकाराधन से उत्पन्न-विषम परिस्थिति और करुणा से नाटक का आरम्भ किया है।

प्रणय में पार्थिव और आत्मिक चेतनाओं, चेष्टाओं और सम्बन्धों का एकत्र समन्वय होता है। इस बात को भी वे निःसंकोच स्वीकार करते प्रतीत होते हैं—

त्वं देवि चित्तनिहता गृह देवता मे
स्वप्नागताशयनमध्यसखी त्वमेव।
दारान्तराहरणनिस्पृहमानसस्य
यागे तव प्रतिकृतिर्मम धर्मपत्नी ॥ अंक १

चारों पंक्तियाँ तथा 'धर्मपत्नी' शब्द दाम्पत्य जीवन की ऐहिकता और आत्मिक सम्बन्ध के स्पष्ट व्यंजक हैं। इसमें मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार से दाम्पत्य आत्म-निलय की भावना पूर्णध्वनित है!

सांसारिक दाम्पत्य सुखोपभोग, चेष्टाओं एवं सम्बन्धों के और निर्वचन को द्योतित करने के लिए अधोलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

राम—द्यूते पणः प्रणयकेलिषु कण्ठपाशः
क्रीडापरिश्रमहरं व्यजनं रतान्ते
शय्या निशीथ-कलहे हरिणेक्षणायाः
प्राप्तं मया विधिवशादिदमुत्तरीयम् ॥२०॥ अंक ४

× × ×

"राम—अविदितमनुसृत्य चित्रकूटे
सुतनु समुचाप........" २१, अंक ४

'सीता—साहसिक ! अतएव दूर एव परिह्रियसे

भाषा और शैली—पहले ही कहा जा चुका है कि दिङ्नागाचार्य में कवि और नाटककार का अपूर्व सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। अतएव उनकी भाषा और शैली में उत्कृष्ट कवित्व के प्रायः सभी गुण उपलब्ध होते हैं। संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का ही वड़ा टकसाली और वाग्धारात्मक प्रयोग किया गया है।

नाटक में विप्रलंभ शृंगार से उपवृंहित करुण-रस का उन्मेष होने के कारण उन्हीं के अनुरूप भाषा और शैली का भी प्रयोग हुआ है। सरल प्रवाहपूर्ण भाषा और लम्बे-लम्बे समासों से रहित पदावलियों के सर्वत्र प्रयोग के कारण सारा नाटक प्रसाद-गुण से व्याप्त है। कोमल वर्णों, ललित और मधुर पदावलियों की जो धारा प्रथम अंक में निस्सृत हुई है वह अन्त तक अवाध गति से वढ़ती चली गई है। अतएव माधुर्य-गुण भी कुन्दमाला की अपनी विशेषता है, जिससे नितान्त सामान्य पाठक भी तुरन्त पहचान सकता है। प्रसाद और माधुर्य के अपूर्व संगम का इससे हृदयस्पर्शी दृष्टान्त संस्कृत साहित्य के गद्य में अन्यत्र दुर्लभ है—

'सीता—वत्स ! आसन्नास्तमयः सूर्यः। दूरे चेतो मानुष-सम्पातः। उड्डीना पक्षिणः। सञ्चरन्ति श्वापदाः। गच्छन् युक्तं परिलम्वितुम् ॥' अंक १

इसी मनोहारिणी भाषाभिव्यंजन-पद्धति का दूसरा अप्रतिम दृष्टान्त है—

'सीता—कथं सत्यमेव मामेकाकिनीं परित्यज्य गतो लक्ष्मणः (विलोक्य) हा धिक् ! हा धिक् ! अस्तमितः सूर्यः, स्वरेणापि लक्ष्मणो न दृश्यते, हरिणा अपि स्वकमावासमायान्ति, उड्डीनाः पक्षिणः, सञ्चरन्ति श्वापदाः, आच्छाद्यतेऽन्धकारेण दृष्टिः, निर्मानुषं महारण्यं, किं करोमि मन्दभाग्या,

किदृशमरण्ये प्रव्रजाम्येकाकिनी·········किन्नुमया खलु पापं कृतम्, यस्येदानीमेव विरहं सर्वथा अनुभविताऽस्मि।' अंक १

'स्वरेणापि लक्ष्मणो न दृश्यते।' इन सरलतम शब्दों के लघुतम समाहार में कवि ने हृदय निकाल कर रख दिया है।

प्रसाद और माधुर्य इसी प्रकार परम गेय पदावलियों में भी निनादित हो उठे हैं—

'त्वं देवि चित्त निहृता गृह देवता मे
स्वप्नागता शयनमध्यसखी त्वमेव····।'
'एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति····'

पदलालित्य और कवित्व के लिये मालिनी छंद की छटा अवलोकनीय है—

सुरभिकुसुमगन्धै वासिताशामुखानां
फलभरनमितानां पादपानां सहस्रैः।
विरचितपरिवेशश्यामलोपान्तरेखो
रमयति हृदयं हन्त कश्चिद्वनान्तः ॥३॥ अंक ४

इसी प्रकार का दूसरा दृष्टान्त है—

मुक्त्वा वसन्तविरहेऽपि मुनि प्रभावाद्
उन्निद्रसान्द्रकुसुमां सहकारशाखाम्।
धावन्त्यमी मधुकरा क्रतु-होमधूम
सन्त्रासिता सरसि वारिसहोदराणि ॥११॥ अंक ४

तरंगों के सीकराभेषक, कलहंसों के मुखरित संगीत और छाया के आलिंगन भाषा और भावों की छलकती हुई ऋजुता और माधुरी का अन्तिम दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—

तरंगाः वीजन्ते सजलकणिकान शीतमरुतस्
तथैते सगीतं दधति कलहंसाः कलगिरः।

सखीवच्छायेयं रमयति परिष्वज्य हृदयं
वने शून्येऽप्यस्मिन् परिजनवती वात्रभवती ॥७॥ अंक १

दिङ्नाग ने अपने इस नाटक में वैदर्भी शैली द्वारा काव्य और सरसता की वही प्रांजल और प्राणवती स्वर्मन्दाकिनी वहाई है जो हमें केवल वाणी के वरदपुत्र समर्थ स्वाभाविक साहित्यकार और काव्य-स्रष्टा वाल्मीकि, भास और कालिदास में दृष्टिगोचर होती है। इन गुणों के उत्कर्ष में कदाचित् ही कोई समीक्षक कुन्दमाला ग्रथन करनेवाले को कालिदास की तुलना में ऊन कह सके।

आपातत: एक वात और ध्यान देने की है कि वाल्मीकि एवं भास के समय से रमणीय और कृत्रिमता-विहीन काव्यसर्जना और नाटक-प्रणयन की जो परम्परा आरम्भ होती है और जिसका कालिदास की प्रतिभा में चरमोत्कर्ष ज्योतित होता है, उसी का परम उदात्त, सुष्ठु, कमनीय, हृदयस्पर्शी और परिप्लावित तथा पुष्पित प्रसार दिङ्नागाचार्य की कृति में अनूठा समा वाँधता है। आगे चल कर दुर्भाग्यवश संस्कृत के अधिकांश साहित्यकार इस प्रकृत-रचना-पद्धति को छोड़ कर कृत्रिमता की उस पंकिलता में फँस गये जिससे प्राय: सारा का सारा परवर्त्ती साहित्य वहुत कुछ रसहीन और अप्रभविष्णु हो गया है।

जहाँ तक कुन्दमाला की छन्द योजना का प्रश्न है दिङ्नागाचार्य ने सवसे प्रचलित और प्रगीतात्मक पन्द्रह वृत्तों का प्रयोग किया है, वे हैं— अनुष्टुप, आर्या, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पुष्पिताग्रा, मन्दाक्रांता, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीड़ित, शालिनी, शिखरिणी, स्रग्धरा। वसन्ततिलका का सवसे अधिक व्यवहार किया गया है। वंशस्थ का केवल एक वार यद्यपि यह विचित्र-सा लगता है क्योंकि वंशस्थ भी संस्कृत साहित्यकारों का वड़ा प्रिय छंद है। सभी छंदों की रचना में भाव और भाषा दोनों के विचार से दिङ्नागाचार्य को पूर्ण सफलता मिली है। उनकी मालिनी, शालिनी, वसन्ततिलका, शिखरिणी और

शार्दूलविक्रीड़ित में संस्कृत की संगीतात्मकता और क्वणन की निर्झरिणी फूटी पड़ती है।

सिंहावलोकन में तुलनात्मक समीक्षा की कुछ बातों की किंचित् पुनरावृत्ति कर उपर्युक्त समस्त मीमांसा को और भी स्पष्ट बनाया जा सकता है।

इस विमर्श-प्रक्रिया में हम देखते हैं कि अभिनयशीलता, नाट्यकला, नाटक की सफलता, रसनिष्पत्ति, स्वाभाविकता, प्रसादगुण, सुकुमारता, कथानक-कौशल तथा तत्सम्बन्धी उद्भावनाशक्ति के दृष्टिकोण से दिङ्नागाचार्य भवभूति से ऊँचा ठहरते हैं और काव्यत्व-पूर्ण गेय पदों वा गीतों के बाहुल्य, प्रकृति-वर्णन की उदात्तता, तन्मयता, चित्रोपमता, पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और औत्सर्गिक काव्य-गरिमा तथा भाषा मन्द्रता के विचार से दोनों में भवभूति। अतएव यह निर्धारित करना कठिन है कि इन दोनों नाटककारों में संस्कृत-साहित्य में किसका स्थान ऊँचा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास और दिङ्नागाचार्य में पर्याप्त अन्तर है, यद्यपि दोनों आलोचनात्मक विचार से एक धारा और एक सिद्धान्त के साहित्यस्रष्टा कहे जाने चाहियें; माधुर्य, प्रसाद एवं स्वाभाविकता जिनकी उभयनिष्ठ विशेषता थी। इस कथन का पिष्टपेषण निरर्थक है कि कालिदास में संस्कृत के श्रव्य तथा दृश्य-काव्य अपनी पूर्णता या परिनिष्ठा को प्राप्त हुए हैं।

समापन में साहित्यिक दृष्टिकोण से दिङ्नागाचार्य को भास का सहोदर भ्राता कहा जाय तो कोई असमीचीन बात न होगी।

रश्मि | ११

मुसलमानों का संस्कृत-प्रेम

हिन्दी के मुसलमान कवियों, लेखकों, प्रेमियों, प्रश्रयदाताओं एवं पोषकों की गाथाएँ तो सर्वविदित हैं ही, किन्तु इस बात को कदाचित् बहुत कम लोग जानते हैं कि बहुसंख्यक मुसलमान संस्कृत के भी परम अनुरागी, पोषक और समर्थक हुए हैं। कई मुसलमान सुलतानों, राजाओं तथा शासकों की राजसभा की भाषा भी संस्कृत थी और उनके सारे राजकार्य संस्कृत भाषा में किये जाते थे। बहुधा यह समझा जाता है कि मुसलमानों के आक्रमण तथा मुस्लिम शासन की स्थापना से संस्कृत-साहित्य के विकास और उसके अध्ययन-अध्यापन को गहरी ठेस पहुँची थी, परन्तु इस विचार में यथार्थता की मात्रा उतनी अधिक नहीं है, जितनी परम्परागत रूप से समझी जाती है। रमेशचन्द्र मजूमदार संपादित 'भारत का इतिहास और संस्कृति' नामक ग्रन्थ (जिल्द ५) में कहा गया है—"इस कथन में बहुत सत्यता नहीं प्रतीत होती कि संस्कृत-साहित्य के ह्रास में मुसलमानों के आक्रमण का बहुत हाथ था। संस्कृत-साहित्य में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति तो पहले ही दृष्टिगोचर होने लगी थी और उसका विकास प्राकृतिक रूप से स्वयं ही अवरुद्ध हो चला था....। हिन्दू-राजवंशों के उच्छिन्न होने पर मुसलमान-शासन की स्थापना की गतिविधियों और उनके आनुषंगिक राजनीतिक उपप्लवों का साहित्य-निर्माण काय पर कोई विशेष विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा था और न तो संस्कृत-साहित्य के प्रणेताओं के 'वातावरण' में ही कुछ अतिशय परिवर्तन हुआ था। प्रत्युत परवर्तीकाल में वस्तुस्थिति

कुछ दूसरी ही थी। इस काल में कतिपय मुसलमान शासकों ने संस्कृत को बहुत प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया था।"

जोनराज और श्रीधर की राजतरंगिणियों में दिये हुये इतिवृत्तों से विदित होता है कि कुछ आरम्भिक सुलतानों के (विशेषतया काश्मीर के) राजत्वकाल में ब्राह्मण अत्यन्त उच्च पदों पर नियुक्त थे। क्षेमेन्द्र कृत 'लोकप्रकाश', ग्रन्थ दिखाता है कि हिन्दू शासन के समाप्त हो जाने पर मुस्लिम शासन के प्रारम्भ होने के पश्चात् पर्याप्त दीर्घकाल तक संस्कृत काश्मीर में राजकीय लिखा-पढ़ी, कचहरियों, अभिलेखों और शासनों (फरमानों) की भाषा रही। इस ग्रन्थ में नाना प्रकार के राजकीय परिपत्रों (डॉकूमेण्ट्स), प्रलेखों (ड्राफ्ट्स), प्रतिवेदनों (रिपोर्ट्स), की रूपरेखा दी हुई है। दैनिक शासन की लिखा-पढ़ी में काम आनेवाली सचिवालय की विधियाँ भी दी हुई हैं। इनसे उस समय संस्कृत का राजभाषा होना निःसंदिग्ध रूप से प्रतिपादित होता है। तत्कालीन प्रलेखन-पद्धतियों में अरबी और फारसी के भी कुछ शब्द आत्मसात् कर लिए गये थे। गायकवाड़ ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'लेखपद्धति' नामक संस्कृत ग्रन्थ से प्रकट होता है कि गुजरात के सुलतानों के शासन में भी सम्भवतया पर्याप्तकाल तक संस्कृत का राज-भाषा के रूप में व्यवहार होता था। 'लेखपद्धति' में राजकीय लिखा-पढ़ी, दस्तावेज प्रभृति परिपत्रों तथा अन्य प्रलेखन-विधियों के वर्णन सोदाहरण दिये हुए हैं।

काश्मीर के इतिहास में जैनुल आबदीन (१४२०-७० ई०) के शासन में बड़ी शान्ति और व्यवस्था रही तथा प्रजा अत्यन्त सुखी थी। यह सुप्रथित शासक संस्कृत-साहित्य का और भारतीय विद्याओं तथा परम्पराओं का अनन्य प्रेमी था। उसने काश्मीर के हिन्दू तीर्थों की कई बार बड़े उत्साह से यात्रा की थी। उसके समय में हिन्दू-रीति-प्रथाओं को इतना प्रोत्साहन मिला और उन्होंने इतना जोर पकड़ा कि ऐसा लगता था कि जैसे अतीत हिन्दूकाल की समृद्धशालीनता एवं भारतीयता पुनः लौट आयी हो।

इतना ही नहीं उपर्युक्त सुलतानों के राजत्वकाल में मुसलमान स्वेच्छा और बड़ी स्पृहतापूर्वक अपने दैनिक वैयक्तिक जीवन में भी संस्कृत का प्रयोग करने लगे थे। वह सभी श्रेणी और वर्ग के मुसलमानों में अत्यन्त जनप्रिय हो गई थी। इस बात का सबसे जाज्वल्यमान प्रमाण श्रीनगर का वहाउद्दीन साहब का संघाराम है। इसकी एक समाधि का शिलालेख संस्कृत भाषा में है। यह सुलतान मुहम्मदशाह के शासनकाल में उत्कीर्ण किया गया था और उस पर जो तिथि अंकित है वह १४८४ खीष्टाब्द सूचित करती है। श्रीनगर के मार्तण्ड और अन्यान्य स्थानों में भी सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता आरिएल स्टाइन ने बहुसंख्यक ऐसी मुस्लिम कब्रें ढूँढ़ निकाली थीं जिन पर संस्कृत में शिलालेख उत्कीर्ण हैं। इन समाधियों पर काल नहीं दिया हुआ है। ये आज भी अनुसन्धित्सुओं का मौन आवाहन और प्रतीक्षा कर रही हैं।

इतिहास प्रख्यात अलबरूनी के (१०३० ई० के लगभग) नाम से भला कौन नहीं परिचित होगा। यह आरब्य भूगोलवेत्ता तथा पर्यटक दीर्घकाल तक भारत में रहा। उसने भारतीय विद्याओं तथा संस्कृति में पर्याप्त अभिरुचि ली थी। वह संस्कृत-साहित्य, भारतीय-रसायन और ज्योतिष-पुराणों तथा स्मृतियों का अच्छा ज्ञाता था। उसने कई स्थलों पर भारतीय कला की भी अत्यन्त उत्कृष्ट और सहृदयतापूर्ण आलोचना लिखी है।

इस प्रसग में अब्दुल रहमान नामक ग्रन्थकार का नाम भारतीय इतिहास में चन्द्रमा की भाँति समुद्भासित है। ये १२०० ई० के लगभग हुए थे। ये भारत के पश्चिमी भाग में पैदा हुए थे तथा इनके पिता का नाम मीरसेन था। उन्होंने प्राकृत वा अपभ्रंश भाषा में 'रास शैली' में 'संदेश-रासक' नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ धार्मिक प्रपंचों में नहीं पड़ा है। अब्दुल रहमान संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनका 'संदेश-रासक' तीन प्रकरणों में विभक्त है और उसमें कुल २२३ छन्द हैं। प्रथम प्रकरण में भूमिका है तथा दूसरे में एक विरहोत्कंठिता रमणी के दीर्घ काल से अपने विदेश गये हुए पत्ति के लिए भेजवाये जानेवाले संदेश का वर्णन है। संदेशवहन का कार्य एक यात्री को सौंपा गया है।

अन्तिम प्रकरण में उक्त विरहिणी की विरह कातरावस्था तथा उसके सापेक्ष प्रकृति एवं षड्ऋतुओं का वर्णन है। भावाभिव्यंजन और रसोन्मेष की दृष्टि से यह ग्रन्थ पर्याप्त मनोहारी है। विभिन्न ऋतुओं के चित्रण में यथार्थता तथा अनुभूतियों की अच्छी झलक मिलती है। उत्कृष्टता में यह कालिदास की तुलना न कर सकता हो, किन्तु इसमें एक प्रकार से मेघदूत और ऋतुसंहार के युगपत् दर्शन होते हैं।

अकबर की राजसभा में भी संस्कृत की अच्छी प्रतिष्ठा थी। अबुल फजल के भाई और शेख मुबारक के पुत्र फैजी संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। अब्दुल रहीम खानखाना हिन्दी और संस्कृत दोनों के मर्मज्ञ थे। इन्होंने हिन्दी-संस्कृत की खिचड़ी भाषा में 'रहीम-काव्य' की रचना की है। इन्होंने 'खेट-कौतुकम्' नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ का प्रणयन किया है जो संस्कृत और फारसी की खिचड़ी है। विशुद्ध और सुन्दर संस्कृत में रचे हुए इनके कुछ श्लोक भी उपलब्ध हैं।

अकबर ने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था उसके समय में नकीब खाँ, मुल्ला शेरी, सुलतान हाजी, थानेश्वरी तथा अब्दुल कादिर बदाउनी ने सम्मिलित रूप से 'महाभारत' का फारसी में अनुवाद किया था। इस अनुवाद का नाम 'रज्मनामा' है। १५८९ ई० में चार वर्ष के कठोर परिश्रम के पश्चात् अब्दुल कादिर बदाउनी ने बाल्मीकि रामायण का फारसी रूपान्तर पूरा किया था। हाजी इब्राहिम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का फारसी अनुवाद किया। फैजी ने गणित ग्रन्थ 'लीलावती' का फारसी में भाषान्तर सम्पन्न किया।

अन्य मुसलमान भाषाओं से भी संस्कृत में अनुवाद किये गये थे। मौलाना शाह मुहम्मद शहबादी ने 'काश्मीर का इतिहास' नामक ग्रन्थ का संस्कृत में रूपान्तर किया था।

शाहजहाँ के समय में भी संस्कृत को कम प्रोत्साहन न मिला था। राजकुमार दारा स्वयं संस्कृत का पारंगत विद्वान् था। उसकी प्रेरणा और प्रश्रय से इस समय उपनिषदों, भगवद्गीता तथा योगवाशिष्ठ रामायण का

फारसी में अनुवाद हुआ था। हिन्दू धर्म और सूफी सम्प्रदाय को लेकर राजकुमार दारा ने भी स्वयं एक ग्रन्थ का प्रणयन किया है जिसमें दोनों की पारिभाषिक पदावलियों का विवेचन है। सैयद मुवारक अली विलग्रामी भी संस्कृत, फारसी तथा अरवी के अच्छे पण्डित और हिन्दी के सरस कवि थे। इनका जन्म १५८३ ई० में हुआ था। इनका काव्य-काल साहित्य के इतिहास लेखकों के अनुसार १६१३ ई० के लगभग माना जाता है।

लगता है मुसलमान महिलाओं के हृदय को भी संस्कृत काव्य की रसमाधुरी, मसृणता, कौशेय-क्रिजस्कता आमूलचूल आलोड़ित करती थी। एक सम्राज्ञी तो संस्कृत का कविता पर जैसे फिदा थी। वह सम्राज्ञी थी शाहजहाँ की परम लावण्यवती रूपराशि वेगम। वंशीधर मिश्र इसके प्रिय कवि थे।

इससे स्पष्ट है कि भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के आरम्भ से लेकर उसके विशीर्ण होने तक की अन्तरा में सदैव संस्कृत को मुसलमानों का किसी-न-किसी रूप में प्रश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त रहा तथा उनमें उनके अध्ययन एवं ज्ञानार्जन की उसी परम्परा की अजस्र धारा बहती रही जो परवर्ती ब्रिटिश राजत्व काल में यूरोपीय और अमेरिकी अध्येताओं एवं संस्कृत-अनुरागियों में दृष्टिगोचर होती है।

वैदिक काल में भूगोल

यद्यपि वैदिक वाङ्मय की परिधि बहुत विशाल है और उसमें संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा सूत्र प्रभृति विविध साहित्य संनिविष्ट होते हैं. किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में वेद शब्द के अन्तर्गत केवल वास्तविक चारों वेदों वा उनकी संहिताओं को ही लिया गया है। अतः यहाँ ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्ववेद की संहिताओं के आधार पर विषय का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु विस्तार-भय से ऋक् संहिता को छोड़ दिया गया है। जो पाठक उस सम्बन्ध के विशद विवेचन में अभिरुचि रखते हों, वे जर्नल गंगानाथ झा इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद के जिल्द १६ मे प्रकाशित लेखक के 'साइंस ऑव जियाग्राफी इन द ऋगवेद' शीर्षक निवन्ध का अवलोकन कर सकते हैं।

विचार परम्परा को व्यवस्थित रखने के लिए समस्त उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन नव लघु प्रकरणों में उपस्थित किया जा रहा है।

१. सृष्टि उत्पत्ति और सृष्टि विद्या

ऋग्वेद की भाँति तैत्तिरीय संहिता और यजुः वाजसनेयि-संहिता में भी हिरण्यगर्भ से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति मानी गयी है। वाजसनेयि-संहिता में ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से चारों वर्णों, चन्द्र, सूर्य एवं दिशाओं का उद्भव बताया गया है। परन्तु अगले १७वें अध्याय में सृष्टिविद्या का पर्याप्त वैज्ञानिक निरूपण करने की चेष्टा की गयी है। यह वर्णन संप्रति मान्य-जाम सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलता है। सृष्टि-उत्पत्ति के

आधुनिक नीहारिका-सिद्धान्त की ओर इस प्रकार इंगित है—'नीहारेण प्रावृता जल्प्या' (शुक्ल यजु०)। वेदों में हिरण्यगर्भ से आकाश, पृथ्वी तथा काल तीनों की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार देश और काल एक ही सत्ता की इकाइयाँ दिखाए गये हैं अथवा में संपृक्त हैं। ये बातें प्रो० आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद (थ्योरी ऑव रिलेटिविटी) से पूर्ण मेल खाती हैं।

२. ज्योतिष भूगोल

ऋग्वेद के मंत्र १।११५।१ की भाँति तैत्तिरीय संहिता (१।४।४३) में भी सूर्य को सब का केन्द्र माना गया है। इससे यह अर्थ लगाया जा सकता है कि तत्कालीन लोगों को कदाचित् विदित था कि सूर्य सौर-मण्डल का केन्द्र है और पृथ्वी सहित ग्रह तथा उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। अथर्ववेद २०।३४।२ भी पृथ्वी की गति की पुष्टि करता है। इससे पृथ्वी की गतिशीलता और सूर्य की स्थिरता का ज्ञान सिद्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर प्रतीकात्मक रूप से आकर्षण-शक्ति की ओर भी संकेत है—उसमें उस शक्ति को आकाश का अवलम्ब और पृथ्वी का आश्रय कहा गया है। तदनन्तर एक स्थान पर लौंद के वर्ष का भी स्पष्ट उल्लेख है। मंत्र ३।३।४ एवं ६।५।४ से ऐसा अभिव्यक्त होता है कि तत्कालीन आर्य दिन-रात के होने का आधुनिक कारण जानते थे। अथर्ववेद में एक स्थल पर (१९।२७।३-४) इस बात का भी उल्लेख है कि आकाश में एक नहीं प्रत्युत बहुसंख्यक सूर्य विद्यमान हैं। सामवेद आदि में इन्द्रधनुष की भी चर्चा है। इस वेद का मंत्र २।६।३ स्पष्ट घोषित करता है कि चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित नहीं है, अपितु वह सूर्य के ही प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है। आगे चलकर मध्याह्नरेखा वा ख-स्वस्तिक रेखा का भी नाम आया है।

३. पृथ्वी और तत्सम्बन्धी नैसर्गिक बातें

तैत्तिरीयसंहिता कहती है कि पहले लोगों को केवल थोड़ी पृथ्वी का ज्ञान था और उस पर पेड़ पौधे न थे। कालान्तर में और अधिक प्रदेशों

का ज्ञान हुआ तथा तरुगुल्म भी उगने लगे। यह देशान्वेषण तथा विकासवाद को ध्वनित करता है। ऋग्वेद के ६।७।१ की भाँति शुक्ल यजु० ७।२।४ से द्योतित होता है कि आर्यों को ज्ञात था कि भूगर्भ अग्नि से व्याप्त है। पृथ्वी गोलक के आकार की है और उसका गर्भ अग्निपूर्ण है, इस बात का और प्रदिपादन अग्रलिखित मंत्र करता है "गातेव पुत्रं पृथ्वी पुरीष्यमग्नि स्वे योनावभारुखा"।

अथर्ववेद में पर्वतीय भागों की उत्क्रान्ति और टूट-फूट का भी परिनिर्देश है। आगे चलकर भूकम्प का संकीर्तन आया है। एक मंत्र में कदाचित् पृथ्वी के तीन कटिबन्धों (शीत, समशीतोष्ण तथा उष्ण) की भी बात कही गयी है, यद्यपि उनका स्पष्ट नाम नहीं दिया गया है। तदनन्तर एक स्थल पर ऐसा इंगित है जिससे परिलक्षित होता है कि ऋषि यह जानते थे कि पृथ्वी के उद्भव के दीर्घकाल के पश्चात् उसका दृढ़ीकरण हुआ और वह ठोस हो पाई। तत्पश्चात् एक प्रसंग में स्यात् ज्वालामुखी का भी नाम आया है। सामवेद (२।३।७) दिखाता है कि तत्कालीन भारतीयों को भूकम्प तथा भूपटन के उपप्लवों (टेक्टानिक मूवमेन्ट) का भी ज्ञान था।

४. भूपटल विन्यास

साम, यजु और अथर्ववेद के काल तक भारतीयों ने पृथ्वी की प्राकृतिक दशा और भूपटल के विन्यास के सम्बन्ध में भी पर्याप्त ज्ञानार्जन कर लिया था। अग्रलिखित पारिभाषिक शब्द इस बात की पुष्टि करते हैं—धनु=मरुभूमि, अनूप=दलदली भूमि, इरिण=ऊसर, शिला=कंकड़ीले स्थान, गह्वर=गहरी कन्दराएँ, ह्रद=झील, लोप=कठिन प्रदेश, काट=ऊबड़-खावड़ प्रदेश, नीप=पर्वत पर्यन्त, सूर्व=अच्छी मिट्टी, किशिल=पथरीले भूभाग, उद्वत्त=उन्नत प्रदेश, प्रवत=ढालुआँ स्थान, सम=समतल मैदान तथा उपह्वर=पर्वतीय ढाल। सामवेद में नदी के होने का भी संक्षिप्त, किन्तु सुन्दर वर्णन है। छोटी-बड़ी नदियों तथा धाराओं के तो बहुसंख्यक संकीर्तन हैं। अनेक कई प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि

आर्यों ने भू-पटल विन्यास का अच्छा निरीक्षण और अध्ययन आरम्भ कर दिया था। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में नाना-प्रकार की चट्टानों एवं भूरी, काली, लाल तथा बहुरंगी मिट्टियों का भी परिनिर्देश आया है।

तैत्तिरीय संहिता में दो बार 'सात पर्वतों' का उल्लेख है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में भूगोल-विज्ञान के तथ्यों का काव्यात्मक भाषा में बड़ा ही मनोहारी निदर्शन किया गया है। उसमें पहाड़ियों, हिमाच्छादित पर्वतों, वनभूमियों, शिला-समुच्चयों, पृथ्वी के प्राणियों, वनस्पतियों, कृषिकार्यों, निवासियों, उनकी रीति-प्रथाओं, खानिकार्यों, भाषा एवं जातिभेदों का अच्छा सारगर्भ वर्णन है। इस पृथ्वीसूक्त को परवर्ती काल के भुवनकोश, भूगोलवर्णन वा भूगोलाध्याय की भावना एवं पद्धति का निःसंदिग्ध रूप से जन्मदाता कहा जा सकता है। इसमें संसार के सभी राष्ट्रों से पहले आधुनिक भूगोल शास्त्र का पर्याप्त व्यवस्थित प्रवर्तन किया गया है। किंवा इसे समस्त संसार का सर्वप्रथम भूगोल-प्रवन्ध वा भूगोल-ग्रन्थ का बीज कहा जा सकता है।

५. ऋतु-विज्ञान एवं ऋतु-भौतिकी (मेटिआरोलॉजी)

ऋतु-विज्ञान और ऋतु-भौतिकी के क्षेत्र में भी अनुभव द्वारा उपर्युक्त वेदकाल में बहुत कुछ उन्नति हुई थी। षड्ऋतुओं का ज्ञान तो भारतीयों को ऋग्वेद के ही समय से था। तैत्तिरीय संहिता में पाँच प्रकार की हवाओं की चर्चा है। आगे समुद्र से वाष्पीभवन और हवाओं की आर्द्रता की बात कही गयी है और उसे वृष्टि का कारण बताया गया है। इसी प्रसंग में यह भी वर्णित है कि वायुसंचार द्वारा वर्षा होती है। पछुवाँ हवा तथा वर्षा करनेवाले पुरोवात से भी लोग पूर्ण परिचित थे। एक मंत्र सूयतापागम (इनसोलेशन) के सम्बन्ध में भी कुछ सूचना देता है। कदाचित् यह बात भी विदित थी कि वर्षा में वनों का भी कुछ योग होता है। अर्थकारों का एक वर्ग कहता है कि शुक्ल यजुर्वेद में प्रयुक्त 'मेघाय' और 'वर्ष्याय' का अर्थ क्रमशः ऋतु-वैज्ञानिक और वर्षा-शास्त्री है। परवर्ती काल में

ऐसे कई वर्षा-शास्त्री हुए थे। 'मेघमाला' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ, जिसका अध्ययन लेखक ने काशी सरस्वती भवन में किया था, ऐसे ही वर्षा-शास्त्री की कृति है।

सूर्य के उत्तर से दक्षिण अभिगमन की बात तो बहुत पहले से विदित थी। अथर्ववेद में अन्तरिक्ष और वायुमण्डल को तीन-तीन स्कन्धों (रीजन्स) में बाँटा गया है। वायुमण्डल के तीनों स्कन्धों को आधुनिक भौगोलिक अभिधान में परिवर्तमण्डल (ट्रापोस्फीयर), समताप मण्डल (स्ट्रैटास्फीयर) तथा अयनमण्डल (आयोनास्फीयर) कहा जा सकता है। इसी वेद में मानसून के लिये 'सलिलवात' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। सामवेद का एक मंत्र (१२।११) दिखाता है कि पृथ्वी वायुमण्डल के माध्यम से संवाहन (कानवेक्शन) और विकिरण (रेडियेशन) की प्रक्रिया से गर्म होती है। बादलों की ऊँचाई के सम्बन्ध में भी लोग कुछ-कुछ यथार्थ अटकल लगाने लगे थे और पर्वतों की उत्तुंगता में घूमने वाले मेघदूत के बन्धुओं से तो पूर्ण परिचित थे। पृथ्वी-सूक्त में धूल उड़ाने वाले और पेड़ों को उखाड़ने वाले झंझावात को 'मातरिश्वा' के नाम से अभिहित किया गया है। वेदों में बहुसंख्यक स्थलों पर कुहरे को नीहार कहा गया है। लोग यह भी जानते थे कि जाड़ों में जल-संस्थानों के ऊपर 'नीहार' का आतिशय्य होता है।

६. समुद्र और समुद्र-संचारण

ऋग्वैदिक काल के पश्चात् समुद्र-सम्बन्धी ज्ञान की बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई थी। समुद्र-सम्पत्ति का भी लोगों को बहुत पहले से पता था। बड़े-बड़े जलयानों का भी पर्याप्त प्रयोग होता था। इन यानों में सौ-सौ डाँड़े होते थे। यूरोप और एशिया के कई देशों से समुद्री आवागमन तथा व्यापार विकसित हो रहा था। कुछ स्थलों पर समुद्रों की संख्या दो, कुछ पर चार और कुछ पर सात कही गयी है। ऋग्वेद में भी समुद्रों की संख्या सात कही गई है। यह संख्या कालान्तर में प्रचलित हुए भुवनकोश की सप्तसागर भावना की

जन्म-दात्री है। वाजसनेयि संहिता में समुद्री शैवाल वा प्लैंकटन को 'समुद्रस्य अवका' के नाम से अभिहित किया गया है।

सामवेदकालीन लोगों को किसी-न-किसी प्रकार भलीभाँति विदित था कि समस्त स्थलमण्डल वा पृथ्वी समुद्रों से घिरी हुई है। 'सिन्धोरुच्छवासे' (सामवेद), 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' (वाजसनेयि-संहिता) प्रभृति पदावलियाँ लक्षित करती हैं कि लोगों को ज्वारभाटे का सम्यक् ज्ञान था। सामवेद (१०।११।३) से विदित होता है कि वे यह भी जानते थे कि चन्द्रमा ही ज्वारभाटा का कारण है।

७. प्रादेशिक, आर्थिक और व्यापारिक भूगोल

अथर्ववेद में पृथ्वी के नवखण्ड और सामवेद में समस्त स्थलमण्डल के सात अंचल (रीजन) कहे गये हैं। सामवेद में रुम, रुशम, श्यावक तथा कृप देशों के नाम लिये गये हैं। पता नहीं रुम किसी आधुनिक भूमध्यसागरीय देश और रुशम रूस की संज्ञा थी अथवा इनसे दूसरे देश सूचित किये जाते थे।

उक्त तीनों वेदों के काल में आवागमन के मार्गों का भी अच्छा विकास हुआ था। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में जनायन पथ (जनपथ), रथवर्त्म (रथमार्ग) और अनसपथ (शकटमार्ग) का नामोल्लेख मिलता है। वैदिक भारत स्थल मार्गों द्वारा विदेशों से भी मिला हुआ था अर्थात् अन्तरराष्ट्रीय चौड़े मार्ग भी थे (मानचित्र के लिये देखिये डॉ० मोतीचन्द्र कृत 'सार्थवाह')। इन सड़कों पर मील के पत्थर भी गड़े हुए थे।

८. जाति-विज्ञान और नृतत्त्व

जाति-विज्ञान के बीज-वपन का कार्य ऋग्वेद काल में ही हो चुका था। परन्तु सम्भवतया पिछले तीनों वेदों के काल में इस विज्ञान की कोई विशेष उल्लेखनीय उन्नति न हुई। अथर्ववेद में पाँच प्रकार की जातियों का परिनिर्देश है। उस काल में अनु नाम की एक जाति थी। लेखक

को कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनके आधार पर प्रतीत होता है कि जापान के आधुनिक ऐनू वा अनु लोग उक्त भारतीय आर्यों की सन्तान हैं। नृतत्त्व के अनुसार उनका स्वरूप भी इसी मत की पुष्टि करता है। जापानियों का वह वर्ग स्वयं भी अपने को आर्यों की संतान कहता है।

९. सर्वेक्षण (सर्वे) और मानचित्र-विज्ञान

हरप्पा-मोहेनजोदड़ो तथा ऋग्वेद सभ्यता निःसंदिग्ध रूप से द्योतित करती है कि सर्वेक्षण के कार्य में भारत में पर्याप्त उन्नति हुई थी। सभी प्रकार के निवेशों (प्लैंस), रचनाओं, लेख्यों तथा मानचित्रों आदि के निर्माण में सारे कार्य पूर्व से आरम्भ किये जाते थे और समग्र दिक्-सांमुख्य (ओरियेंटेशन) पूर्वाभिमुख रक्खा जाता था क्योंकि ऋचाएँ कहती हैं कि स्वर्ग का द्वार पूर्व की ओर है और जगन्नियन्ता ने सृष्टिरचना का कार्य पूर्व की ओर से ही आरम्भ किया था। इस सम्बन्ध में एक ज्ञातव्य रोचक बात यह है कि ७०० ई० से ११०० ई० के बीच ख्रीष्टीय मानचित्रों को पूर्वाभिमुख बनाया जाता था।

सर्वेक्षण और मानचित्र विज्ञान का सबसे अधिक विकास वेदियों के निर्माण कार्य द्वारा हुआ था। वेदों में सूर्य और अश्विनीकुमारों को सबसे बड़ा सर्वेक्षणकर्त्ता कहा गया है। पूर्व कथित लम्बी-लम्बी सड़कों का निर्माण और उन पर गड़े हुए पत्थर आधुनिक ढंग के अनावृत सर्वेक्षण (ओपेनट्रावर्स सर्वे) का उत्कर्ष अभिव्यक्त करते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारत में सर्वेक्षण का उद्भव और विकास मिस्र से प्रथम हुआ था।

तैत्तिरीय संहिता कहती है कि यह वेदी पृथ्वी का निरूपण है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी को कल्पित लेख्यों द्वारा दिखाने की परम्परा का आरम्भ वेदियों के उद्भव के समय ही हो चुका था। बहुसंख्यक उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देश में भूमण्डल के मानचित्र भी बनाये जाने लगे थे यद्यपि अभी तक इसका पुरातत्त्व का कोई

मूर्त प्रमाण नहीं मिल पाया है। उपर्युक्त वर्णनात्मक प्रमाण ही यह भी प्रतिपादित करते हैं कि तत्कालीन भारतीय वैबीलोनिया के गैसूर की खुदाई में मिले हुए मानचित्रों से किसी प्रकार घटिया मानचित्र नहीं वनाते थे। पुरनिवेश (टाउन-प्लैनिंग) के सम्बन्ध में वनाये जाने वाले मानचित्रों की सुनिश्चित वात इस कथन का अकाट्य प्रमाण है।[1]

१. अभी कुछ समय पूर्व लेखक को ऐसी बातें विदित हुई हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिककाल में संसार का मानचित्र निश्चित रूप से बनाया जाता था और उसमें सभी समुद्र, महाद्वीप, पर्वत, नदियाँ तथा वनस्पतियाँ दिखायी जाती थीं। वि० दे० लेखक का अनुसन्धान प्रवन्ध Development of Geographic Knowledge in Ancient India.

प्राचीन भारत के भौगोलिक यन्त्र

महाभारत, वैद्यक, वास्तु तथा प्राचीन भारतीय वाङ्मय के इतर ग्रन्थों द्वारा यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि भारतीय अति पुरातन काल से ही युद्ध-यन्त्र, विमान, शल्य-यन्त्र, 'लिफ्ट' एवं अन्य नाना प्रकार के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक यन्त्रों का निर्माण और प्रयोग भलीभाँति जानते थे। किन्तु भौगोलिक यन्त्रों के क्षेत्र में उन्होंने कितनी उन्नति की थी, इस सम्बन्ध में केवल जनसाधारण को ही बहुत थोड़ी बातें नहीं विदित हैं, प्रत्युत देश के आधुनिक भूगोल-शास्त्रियों ने भी एकदम गवेषणा वा छानबीन नहीं की हैं। पर प्राचीन भारतीय इस दिशा में भी बहुत बढ़े-चढ़े थे, यह बात आगे के इतिवृत्त से पूर्णतया सिद्ध हो जाती है।

यद्यपि सर्वेक्षण और परिलेखन (कार्टोग्राफी) से भारतीय हरप्पा और मोहनजोदड़ो तथा वैदिक काल से ही परिचित थे और एतदर्थ नाना
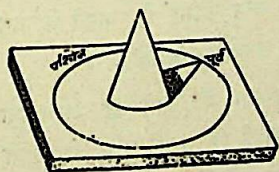
शंकु : दिशा-निर्धारण के लिए

एक सहस्र वर्ष पूर्व का 'प्लेन टेबल' धरती-मापन के लिए
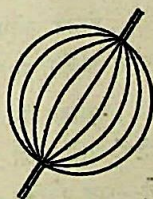
खगोल एवं भूगोल का निदर्शक काष्ठ गोलक

चित्रकार : मायाप्रसाद त्रिपाठी

प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग करते थे, किन्तु उनका स्पष्ट और विशद वर्णन सर्वप्रथम शुल्व सूत्रों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (२००० ई० पू०) में भी ऐसे कई यन्त्रों का उल्लेख है। इस ब्राह्मण एवं शुल्वसूत्रों (१००० ई० पू० से ४०० ई० पू०) के अनुसार अधोलिखित यन्त्र विशेष प्रचलित थे—

(१) औक्ष्ण चर्म वा गोचर्म—यह क्षेत्रफल नापने के काम में लाया जाता था। इसका परिणाह ३०० फीट × १० फीट वा १८०' × ६६' होता था।

(२) बाँस के लट्ठे, डण्डे तथा वेत्रदण्ड।

(३) रज्जु।

(४) लकड़ी के वल्ले।

(५) शंकु—इससे दिशाएँ निर्धारित की जाती थीं तथा काल-ज्ञान के लिए धूप-घड़ी का निर्माण किया जाता था।

(६) शम्या—छत्तीस वा बत्तीस अंगुल का रूलर, १ अंगुल = ३।४ इंच।

(७) स्फ्य—लकड़ी का करवाल वा मोटी पेन्सिल जिससे रेखाएँ खींची जाती थीं।

रोमन लोग जो काम अपने सर्वेक्षण यन्त्र 'ग्रोमा' से करते थे, वह काम प्राचीन भारतीय ज्यामितीय पद्धति से सम्पादित करते थे।

एतत्कालीन आर्य सर्वेक्षण में जो रज्जु काम में लाते वह आधुनिक 'टेप' जैसी होती थी। मानव शुल्वसूत्र कहता है कि उसमें पाँच जोड़ होते थे—वह पंचांगी कहलाती थी। उस पर तीन बड़े चिह्न बने होते थे।

कात्यायन शुल्वसूत्र के लगभग समवर्ती कौटिल्य (चौथी शती ई० पू०) ने भी रज्जु का उल्लेख किया है। इसकी लम्बाई लगभग ६० फीट होती थी और यह अर्वाचीन गुण्टर चेन से मिलती थी।

हड़प्पा में एक ऐसा टूटा हुआ [illegible] प्राप्त हुआ है, जो आजकल

के 'स्केल' की भाँति विभिन्न भागों में विभक्त है।

बहुत सम्भवतया खीष्टाब्द पूर्व से ही भारतीय गोलक (ग्लोब) बनाना और उसका अध्ययन करना जानते थे। ज्योतिषी और भूगोलवेत्ता दोनों ही गोलकों का प्रयोग करते थे। इसके लिए खगोलक (हैवेनली ग्लोब) और भूगोलक (अर्थली ग्लोब) दोनों ही बनाये जाते थे। सूर्यसिद्धान्त (खीष्ट की चौथी शती), आर्यभट्ट (४७९ ई०) तथा प्रायः अन्य सभी सिद्धान्त-ग्रन्थों में गोलक का वर्णन है। भास्कराचार्य कक्षा में विद्यार्थियों के विनिदर्शनार्थ गोलक का भलीभाँति प्रयोग करते थे। अपने 'सिद्धान्त-शिरोमणि' (द्वादशशती) में उन्होंने इसकी स्पष्ट चर्चा की है।

ब्रह्मगुप्त (सप्तम शती) ने यष्टियन्त्र नाम के एक विशिष्ट यन्त्र का वर्णन किया है। इसमें एक लम्बी छड़ी और एक लम्बप्रस्थ बाँस के डण्डे का प्रयोग किया जाता था। इससे निरीक्षक किसी तारे का उन्नतांश (ऊँचाई का कोण) नापता था। इसकी सहायता से ध्रुवतारे की ऊँचाई ज्ञातकर किसी स्थान का अक्षांश निकाला जाता था। इस प्रकार इसे आधुनिक 'सेक्सटैण्ट' का पूर्वज कहा जा सकता है।

आगे ब्रह्मगुप्त इस यष्टियन्त्र द्वारा दिशाज्ञान की विधि भी बतलाते हैं। इस प्रकार गणना द्वारा क्षैतिज कोण (हॉरिजॅण्टल ऐंगिल) भी
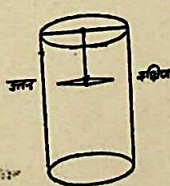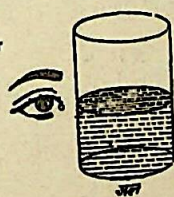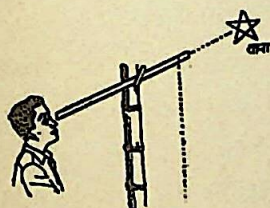
थिओडोलाइट का जनक : ब्रह्मगुप्त का यष्टियन्त्र वा भास्कराचार्य की धीयन्त्र

'स्पिरिट लेवल' का पूर्वज—प्राचीन समतलीकरण का यन्त्र

अपनी युग यात्रा के प्रथम प्रभात में दिक्सूचक यन्त्र

चित्रकार : मायाप्रसाद त्रिपाठी

ज्ञात किया जा सकता था। इस रूप में इस यन्त्र से आधुनिक थिओडोलाइट का भी काम लिया जाता था।

भास्कराचार्य ने इस यन्त्र का नाम धीयन्त्र रखा था और उन्होंने उसकी भूरिभूरि प्रशंसा की है।

एकादश शती के सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् श्रीपति ने अपने 'सिद्धान्तशेखर' ग्रन्थ में त्रिफलक नामक एक यन्त्र की चर्चा की है। यह एक लकड़ी के समतल तख्ते का बना होता था, जो तीन पाँवों पर आरूढ़ होता था। इन पाँवों की ऊँचाई मनुष्य की ऊँचाई की लगभग तीन-चौथाई होती थी। इसका वर्णन द्योतित करता है कि यह आज-कल के 'प्लेन टेबुल' जैसा होता था। इससे ध्रुवतारे की ऊँचाई नापकर किसी स्थान के अक्षांश की गणना की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह यन्त्र भौगोलिक पर्यवेक्षण एवं सर्वेक्षण के काम में भी लाया जाता था। इस सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ के दो छन्द द्रष्टव्य हैं।

अम्भोभिः सुसमीकृते त्रिफलके दृष्ट्युच्छ्रिते स्थापयेत्।
शङ्कुं तत्परिमाणमुत्तरदिशं कोटीं दृढां तत्तले।
शङ्क्वग्रे भवति ध्रुवेयदि तदा मेरुवदक् कोटि के।
लङ्कायां वसतिस्ततोऽन्य-विषये तच्छङ्कुना भेदयेत्॥

शङ्क्वग्रतो यत्र च सूत्रपातः
स्याच्छङ्कु-मूलान्तरमग्रलम्बः
शङ्क्वग्रभूम्यन्तरमक्ष उक्त
स्त्रिज्याग्रतस्तौ भवतोऽनुपातान्॥

यहाँ प्रथम छन्द की प्रथम पंक्ति में एक पद आया है 'अम्भोभिः सुसमीकृते'। इससे परिलक्षित होता है कि श्रीपति उक्त यन्त्र के जल द्वारा समतलीकरण से भलीभाँति परिचित थे। इस कार्य की प्रक्रिया एकदम आधुनिक [illegible] यन्त्र ([illegible]) की

पद्धति जैसी होती थी। 'सिद्धान्तशेखर' के टीकाकार ववुआमिश्र ने भी इस छन्द की जो टीका की है, उससे भी यही प्रतिपादित होता है।

शतपथ ब्राह्मण तथा शुल्वसूत्रों से भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समतलीकरण की भावना, पद्धति और उपयोगिता से भली-भाँति अवगत थे। वे भूमि तथा विविध प्रकार के ज्योतिष एवं भौगोलिक यन्त्रों का जल तथा अन्य यन्त्रों से समतलीकरण भलीभाँति जानते थे।

आर्यभट्ट की 'आर्यभटीय' में जल से भूमि की समता जानने की विधि वतायी गयी है। ख्यातनामा ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त तथा लल्ल भी यह वात जानते थे। ब्रह्मगुप्त कहते हैं—सलिलेन समं साध्यं—अर्थात् जल से भूमि-समता निर्धारित करनी चाहिए। लल्लाचार्य का कथन है—"लम्वको भ्रमः सलिलं-स्युर्यत्र साधनानि प्रज्ञा च"—साहुल, परकार और जल से समतलीकरण सम्पादित किया जा सकता है।

आर्यभटीय की भूमि की समता ज्ञात करने की पद्धति इस प्रकार है—"यदि भूमि की समता जाननी हो कि यह भूमि वरावर वा ऊँची-नीची है तो उसको जल द्वारा ठीक करे। दृष्टि द्वारा भूमि को वरावर कर उसपर एक वृत्त खींचे, उसके वाहर दो वा तीन अंगुल पृथक दूसरा वृत्त वनावे और परिधि की वीच की जगह को वरावर रखकर गड्ढा करे और इस गड्ढे को जल से भरे, यदि इसके ऊपर जल सव ओर हो, तो जानना चाहिए कि पृथ्वी सम है। यदि जल कम दीखे तो वहाँ का स्थान ऊँचा होगा, एवं जहाँ जल अधिक हो वहाँ का स्थान नीचा होगा। लम्बक (साहुल) द्वारा भी पृथ्वी की ऊँचाई-निचाई का ज्ञान होता है।"

'मानसार' (२५ ई० पू०) के द्वितीय अध्याय सर्वेक्षण यन्त्रों के निर्माण का सविस्तर वर्णन किया गया है। मापन कार्य के लिए तीन प्रकार के मानों का प्रयोग किया जाता था, जो हस्तदारु, दण्डदारु तथा रज्जु कहलाते थे। हस्तदारु तथा दण्डदारु विभिन्न प्रकार की लकड़ियों के वनाये जाते थे। रज्जु नारियल के छिलके, कुश, रेशम आदि की वनायी जाती थी।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' तथा वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' (ख्रीष्ट की षष्ठ शती) में वर्षामान (रेनगाज) के निर्माण और प्रयोग की विधि बतायी गयी है। ख्रीष्टाब्द के आरम्भ काल तक भारतीय दिक्-सूचक यन्त्र से भी परिचित हो चुके थे। 'मिलिन्दपञ्हो' (ख्रीष्ट की प्रथम शती) नामक पालीग्रन्थ में भी इस यन्त्र का उल्लेख किया गया है। इसे निर्यामक ज्येष्ठ वा पोताध्यक्ष (सी-कैप्टेन) बड़ी सावधानी से सील मुहर के भीतर रखता था और किसी को छूने नहीं देता था—"पुन च महाराज, निय्यामक यन्ते मुद्दिकं देति माकोचि यन्तं आमसित्था इति।"

'मिलिन्दपञ्हो' के अग्रलिखित अनुच्छेद में पता नहीं आधुनिक वायुचापमापक यन्त्र (बैरोमीटर) के किसी पूर्वज का उल्लेख है अथवा किसी दूसरी वस्तु का—तब विद्वान गुरु धर्मकरक (एक विशिष्ट प्रकार के व्यवस्थित जलपात्र) में जल ले आये और उसे दिखाकर सम्राट मिलिन्द से कहा—"जैसे इस पात्र का जल वायुमण्डल के सहारे रुका हुआ है, उसी प्रकार वह जल भी वायु के सहारे पर है।"

रश्मि | १४

दकार्गलः कूप-सरोवर की खुदाई

कुएँ-सरोवर की खुदाई का काम केवल भारत में ही नहीं, समस्त संसार में न जाने कब से प्रचलित है। सर्वप्रथम वास्तविक अनुभव के आधार पर इस विज्ञान का विकास धीरे-धीरे हुआ था। प्राचीन भारत में इस विज्ञान ने बड़ी उन्नति की थी। इस विज्ञान-विशेष को दकार्गल या दगार्गल कहते थे। इसमें भूगर्भस्थ जल और उसके तल (वाटर टेबुल) का वर्णन और विवेचन होता था। पातालतोड़ कुओं और नलकूपों के आधुनिक युग में तो इस विज्ञान की महत्ता और भी बढ़ गयी है और उसमें कल्पनातीत प्रगति भी हुई है।

कदाचित् मनु इस विज्ञान के सबसे प्राचीन विशेषज्ञ तथा सुव्यवस्थित लेखक हुए हैं। इस महान् विद्वान् ग्रन्थकार के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ विदित है, वह प्रायः नहीं के बराबर है। यह भी भली-भाँति नहीं विदित है कि प्राचीन भारत में ऐसे कितने मनु हुए हैं। साधारणतया जनसमुदाय केवल उसी मनु को जानता है जिन्होंने 'मनुस्मृति' वा 'मानवधर्मशास्त्र' लिखा है, किन्तु ऐसा भास होता है कि और भी मनु हुए हैं, जो बड़े भारी विज्ञान-वेत्ता थे। 'मानवशुल्व-सूत्र' तथा 'दकार्गल' नाम के दो वैज्ञानिक ग्रन्थों के प्रणेता वा प्रणेताओं के नाम मनु दिये हुए हैं। दकार्गल वा दगार्गल-सम्बन्धी ग्रन्थ के रचयिता मनु का उल्लेख वराहमिहिर (पञ्चमशती खीष्टाब्द) की 'बृहत्संहिता' में आया है। यहाँ इस विवेचन की तनिक भी आवश्यकता नहीं कि 'मानवशुल्वसूत्र' तथा 'दकार्गल'

का प्रणयन एक ही व्यक्ति ने किया है या दो भिन्न वैज्ञानिकों ने परन्तु विविध बातों के पूर्वापर-सम्बन्ध के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वराहमिहिर ने जिस मनु का उल्लेख किया है वे सम्भवतया ४०० खीष्टाब्द पूर्व हुए थे। कुछ भी हो, २०० खीष्टाब्द पूर्व के पश्चात् उनका काल निर्धारित करना युक्तिसंगत न होगा और जैसा वराहमिहिर तथा उनके टीकाकार भट्टोत्पल (९६६ ईसवी) के परिनिर्देशों—'वृत्तैरपिमानवं वक्ष्ये' एवं 'मनुना विरचितं दकार्गलम्'—से द्योतित होता है, उस सुप्रथित वैज्ञानिक ने दकार्गल विषय पर एक विशाल ग्रन्थ लिख डाला था।

वराहमिहिर ने अपनी 'वृहत्संहिता' के दकार्गल नाम के तिरपनवें अध्याय के प्रणयन में मनु-विरचित दकार्गल से पूरी सहायता ली है। इस अध्याय के छंद १००, १०१ तथा १०२ की पदावली भी मनुकृत दकार्गल में मिलती है। 'वृहत्संहिता' के टीकाकार भट्टोत्पल ने मनु के जिन पाँच छन्दों को अपनी टीका में उद्धृत किया है, उनका सामान्य अनुशीलन भी उपर्युक्त कथन को सर्वथा प्रतिपादित कर देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि खीष्टाब्द के कई शतियों पूर्व भूतत्व की इस शाखाविशेष का प्रत्न भारत में वहुत ही सम्यक् और सुव्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन होता था। भारतीयों ने बिना किसी विदेशी प्रभाव के, एकदम स्वतन्त्र रूप से, उसकी नींव डाली थी और उसका प्रचुर विकास किया था।

वराहमिहिर ने भूगर्भस्थ जल-तल विज्ञान-सम्बन्धी अपने उल्लिखित अध्याय की रचना में अपने एक और पूर्ववर्ती वैज्ञानिक के ग्रंथ से प्रभूत सहायता ली है। इनका नाम सारस्वत मुनि था। कई स्थलों से तो ऐसा लगता है कि वराहमिहिर को सारस्वत मुनि का दकार्गल मनुकृत दकार्गल से विशेष प्रिय था। अभी तक सारस्वत मुनि और उनकी कृति के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। वराहमिहिर ने उनका उल्लेख मात्र किया है तथा भट्टोत्पल ने उक्त मुनि के कई छन्दों के उद्धरण दिये हैं। इससे एक बात तो स्वयं सिद्ध है कि भट्टोत्पल के समय में सारस्वत मुनि का ग्रंथ

विद्यमान था। उन्होंने उसका पूरा-पूरा उपयोग किया होगा। वृहत्संहिता (जिल्द १ तथा २) के सम्पादक काशी के मूर्धन्य ज्योतिषी तथा गणितज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने जिल्द २ के आरम्भ में केवल यह प्रश्न उठाकर छोड़ दिया है कि सारस्वत मुनि कौन थे। परन्तु अभी तक यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों अछूता पड़ा हुआ है—किसी ने उस पर आँख भी नहीं उठायी है। अच्छा हो यदि कोई अध्येता वा अनुसन्धान-छात्र सारस्वत मुनि और उनके कृतित्व के सम्बन्ध में लगनपूर्वक गवेषणाकार्य आरम्भ करे और हस्तलिखित पुस्तकों के विविध सरस्वती भाण्डागारों में (जर्मनी, अमेरिका, चीन आदि विदेशों में भी) उनकी कृतियों की सायास खोज की जाय। इसी प्रकार मनुकृत दकार्गल के पूर्ण मूल ग्रन्थ का अन्वेषण भी परम अपेक्षित है।

जहाँ तक प्रस्तुत निबन्ध के वास्तविक विषय का प्रश्न है, अधोलिखित अनुच्छेदों में उसका अति संक्षिप्त पर्यवेक्षण उपस्थित किया जा रहा है। यह पर्यवेक्षण केवल 'वृहत्संहिता' पर ही आधारित है। इसमें सारस्वत मुनि तथा मनु के सिद्धान्तों एवं विवेचनों का स्वयमेव समावेश हो गया है। प्रस्तुत लेखक ने इस दिशा में कई वर्षों तक अनवरत अनुसन्धान किया है और हस्तलिखित ग्रन्थों के बहुसंख्यक वैयक्तिक और सार्वजनिक पुस्तकालय छान डाले हैं, परन्तु अभी तक उसे इस विषय पर वराहमिहिर के परवर्ती युग का भी कोई ग्रंथ नहीं मिल पाया है।

अत्यन्त व्यापक शब्द दकार्गल के अतिरिक्त इस क्षेत्र में दो और पुराने प्राविधिक वा वैचक्षणिक शब्द (टेकनिकल टर्म) प्रचलित हैं। वे हैं—शिरा तथा शिराविज्ञान। भट्टोत्पल ने 'वृहत्संहिता' के तिरपनवें अध्याय के बासठवें श्लोक की टीका में इनका प्रयोग किया है। पहले का अर्थ है भूगर्भस्थ जल की धारिकाएँ वा धमनियाँ तथा दूसरा जलतल या अंग्रेजी के वाटर टेबुल का पर्याय है।

श्लोक ३, ४, ५ सूचित करते हैं कि भूगर्भस्थ सोते धमनियों जैसे पृथ्वी

गोलक में फैले होते हैं। प्रथम श्लोक वताता है कि कुछ स्थानों में जल-तल ऊँचा होता है तथा कुछ में नीचा या गहराई पर। द्वितीय श्लोक से ज्ञात होता है कि जलतल की सारी वातें जल-वृष्टि पर अवलम्बित होती हैं। आकाश से गिरने वाले जल का मौलिक रंग तथा स्वाद एक होता है, किन्तु वर्षण तथा धरती में रिसने के पश्चात् उसके वर्ण और स्वाद में स्थानों की प्रकृति के अनुसार भेद हो जाता है। अगले श्लोकों में भूगर्भस्थ जल की संप्राप्ति-प्रक्रिया का निदर्शन है, साथ ही उसकी विभिन्न गहराइयों पर भी दृष्टिपात किया गया है। इन छन्दों में वैज्ञानिक तथ्यों के साथ-साथ काल्पनिक वातें भी मिली हुई हैं। किन्तु चट्टानों के विन्यास, मृत्तिका (मिट्टी) की वनावट तथा जलतल की गहराइयों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी हुई हैं, वे सामान्यतया प्रायः शुद्ध हैं। भेद्य (परवियस) तथा अभेद्य (इमपरवियस) शिलास्तरों का भी उल्लेख है।

भूगर्भस्थ जल की संप्राप्ति के दृष्टिकोण से वराहमिहिर ने तीन प्रकार के भूखण्ड वताये हैं—१. जांगल (वे भूभाग जहाँ जल का प्राचुर्य नहीं होता है), २. अनूप (जहाँ भूगर्भस्थ जल का आधिक्य होता है और उसकी गहराई भी अपेक्षाकृत कम होती है) तथा, ३. मरुदेश या मरुभूमियों-वाले प्रदेश।

मरुभूभागों में भूगर्भस्थ जल कैसे और कहाँ-कहाँ प्राप्त होता है तथा उसकी संप्राप्ति-प्रक्रिया क्या होती है, इन वातों का सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवं ज्योतिषी वराहमिहिर ने पर्याप्त समीचीन वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मरुस्थलों में भूमि के भीतर के पानी के सोते ऊँट की गर्दन के आकार के होते हैं और धरातल से उनकी गहराई सर्वत्र वहुत अधिक होती है। आधुनिक भूतत्ववेत्ता (जिआलोजिस्ट) और भूपटल-विन्यासशास्त्री (जिओमार्फालॉजिस्ट) भी मरुभूमियों के पातालतोड़ कुओं की स्थल रूपरेखा (टोपोग्राफी) के सम्वन्ध में एकदम यही वात कहते हैं। आगे का चित्र इस वात को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है—

पातालतोड़ कुआं या आरटीजन वेल

(ऐसे कुएँ आस्ट्रेलिया और अलजीरिया में अधिकता से पाये जाते हैं। भारतवर्ष में भी मद्रास तथा राजस्थान में ऐसे कई कुएँ निर्मित किये जा चुके हैं।)

'वृहत्संहिता' के उक्त अध्याय के छन्द १०४ में कहा गया है कि ताँबे के रंग की कँकड़ीली और रेतीली मिट्टी पानी को कषाय (कसैला) वना देती है। भूरी मिट्टी के संसर्ग से जल क्षार हो जाता है, पीत मृत्तिका का भूगर्भस्थ जल लवण होता है। नीली मिट्टी का पानी शुद्ध, मीठा और सुस्वादु होता है।

वराहमिहिर ने यह भी वात वहुत ठीक-ठीक वताई है कि किस स्थान में कितने हाथ या पोरसा पर पानी निकलता है और उसकी मात्रा कैसी होती है। धरातलस्थ वन या वनस्पतियों का भूगर्भस्थ जल से क्या सम्बन्ध होता है, इसकी गहराई और प्राचुर्य पर उनका क्या प्रभाव होता है, इन वातों का भी उन्होंने पर्याप्त समीचीन और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

अव भी गाँवों के पुराने ढंग के अपढ़ कूप और सरोवर खोदने वाले नोनियाँ आदि जातियों के लोगों को वराहमिहिर के इस दकार्गल का बहुत अच्छा व्यावहारिक ज्ञान होता है। यह ज्ञान उन्हें परम्परा तथा श्रवण से प्राप्त होता है क्योंकि संस्कृत भाषा में तो वे निरक्षर भट्टाचार्य ही होते हैं।

प्राचीन भारत में काँच-उद्योग

नीली-पीली-लाल चाँदनी छिटक जाती है भवन में—काँच के माध्यम से—विद्युदग्रों (एलेक्ट्रोडों—फ्लोरेसेण्ट रॉडों) से विजली के लट्टुओं से और उनके भव्य स्वप्निल प्रकाश में चमक उठते हैं—तेल-फुलेल, औषध भरे शीशी-वोतल, रंग-विरंगी चूड़ियाँ, लालटेनों के शीशे और न जाने क्या-क्या ! आज संसार के प्रत्येक कोने में करोड़पति से लेकर रंक तक सभी के घरों में काँच किसी-न-किसी प्रकार प्रवेश पा चुका है और अपना आधिपत्य जमा चुका है। सम्प्रति काँच का जितना श्लक्ष्ण, मोहक और रोमांसमय व्यक्तित्व है, उतना ही मधुर रमणीय उसका ऐतिहासिक आख्यान भी है। काँच के पूर्वजों की फटी-चिथी जन्मकुण्डली का कुछ अंश तो प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है, कुछ धरती के पन्नों में विखरा मिलता है। उनको जोड़-वटोर कर पढ़ने से नाना प्रकार की रोचक बातें और प्राविधिक ज्ञान प्रस्फुटित होते हैं। ऐसा लगता है कि काँच का जन्म तथा प्राथमिक विकास वालूभरे भूभागों में—मरुसभ्यता के क्षेत्रों में हुआ था। सबसे पहले मिस्रवासियों ने लगभग ३००० ई० पू० में काँच का निर्माण एक्सरे की भाँति संयोगात् किया था, तत्पश्चात् मेसोपोटामियाई, एशियाई, रूमी (तुर्की), यूनानी, रोमन सभ्यता ने इसके उद्योग-कार्य में हाथ वँटाया।

भारत में काँच-निर्माण की सबसे पहली नींव कव पड़ी—इस सम्बन्ध में पूर्ण सुनिश्चित मत-निर्धारण के लिए अभी वहुत उत्खनन, अनुशीलन तथा अनुसंधान की अपेक्षा है। परन्तु वहुसंख्यक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह प्रायः निश्चित-सा है कि भारतीय नैसर्गिक काँच—स्फटिक से लगभग ३००० ई० पू० से ही परिचित थे और उसका नानाविध उपयोग जानते थे।

वहुत सम्भवतया वह कृत्रिम काँच का नहीं, वरंच स्फटिक का आश्चर्यकारी अद्‌भुत प्रासाद था जिसमें दुर्योधन को कई बार धोखा हो गया था और उसके उसी अपमान की ज्वाला के कारण महाभारत जैसे महाध्वंसकारी महायुद्ध का बीज-वपन हुआ। इस प्रकार अभीतक की इतिहास परम्परा से यही भास होता है कि भारत में काँच का पदार्पण विदेशों से हुआ और चीन-जापान में भी काँच पाश्चात्य सम्पर्क से ही पहुँचा।

हरप्पा और मोहनजोदड़ो में लगभग ३००० ई० पू० की कई ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर काँच की वड़ी सुन्दर और निपुण कलई की हुई है। कुछ लोग पहले इन वस्तुओं को काँच की समझते थे। इन सब वातों को देखते हुए यह अनुमान वड़ा साधार प्रतीत होता है कि हरप्पा-मोहनजोदड़ोवालों को काँच का अवश्य पता रहा होगा। हो सकता है, उन्होंने उसका स्वतन्त्र आविष्कार भी किया हो। परन्तु यह अनुमान तथ्य का रूप तभी धारण करेगा जव खुदाइयों द्वारा अथवा अन्य ऐतिहासिक आनुषंगिकताओं द्वारा वैसा प्रतिपादित हो जाय।

किन्तु एक वात निर्विवाद है कि शतपथ-ब्राह्मणकाल (२००० ई० पू० के आस-पास) से ही भारतीय काँच के मनके स्वतन्त्र रूप से वनाना जानते थे। इस ब्राह्मण (१३.२.६.८) में इसकी स्पष्ट चर्चा आयी है। काँच के मनकों का अत्यन्त प्राचीन काल में ही भारत में इतना विकास और प्रचार हो चुका था कि उनका व्यापार और वस्तु-विनिमय में प्रभूत उपयोग होता था। हॉलैंड के सुप्रथित पुरातत्वविद् वान डर स्लीन ने अफ्रीका की खुदाइयों के आधार पर यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया गया है कि भारतीय मेरठ के पास ब्रह्मपुर में वने हुए मनकों द्वारा अफ्रीका के जंजीवार (शंखवर) तट से प्रचुर व्यापार करते थे।

दर्पण का प्रयोग भी भारतीय शतपथ-ब्राह्मणकाल से ही जानते थे। इस ब्राह्मण में, वृहदारण्यक उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा गीता में दर्पण को 'आदर्श' की संज्ञा प्रदान की गयी है। विविध काव्यों में 'मुकुर' शब्द

भी दर्पण के लिए प्रयुक्त किया गया है। गुप्तकाल में रत्नजटित दर्पणों का दौरा-दौर था। देश में दर्पणों का प्रचार यह ध्वनित करता है कि इनका निर्माण अवश्य ही भारत में होता रहा होगा। दर्पण-निर्माण के विकास में भारतीय शिल्पियों का निश्चित रूप से बहुत योग रहा होगा, चाहे यह न भी माना जाय तो क्या कि उन्होंने उसका मौलिक आविष्कार किया था।

महामुनि सुश्रुत (३०० ई० पू०) ने अपने वैद्यक ग्रन्थ में कई बार काँच शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है। 'पचतन्त्र' में भी इसका किंचित् विवरणात्मक उल्लेख है। पाँचवीं शती के 'अमरकोष' में काँच का एक और पर्याय 'क्षार' दिया हुआ है। बौद्ध-साहित्य में एक शब्द 'क्षपाक्ष' काँच-निर्मित कृत्रिम आँखों के लिए व्यवहृत हुआ है। तुरन्त यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द उपचक्षु या चश्मे का वाचक है, किन्तु इतना तो निःसंदिग्ध है कि भारतीय उद्योगशिल्पी काँच से आँख जैसी या आँख के रूप अथवा कार्य में सहायता देनेवाली वस्तु बनाने लगे थे। यह देशी उद्योग का ही उत्कर्ष था।

कालिदास (पहली शती ई० पू०) के 'रघुवंश', बाण के 'हर्षचरित', माघकृत 'शिशुपालवध' तथा सोमदेव-विरचित 'कथासरित्सागर' में प्याले को चषक के नाम से अभिहित किया गया है। राजाओं के काम में आनेवाला यह पात्र भव्य काँच का बनता रहा होगा। पूर्वापर प्रमाणों की संगति इसमें तनिक भी संशय नहीं रहने देती। प्रत्न वाङ्मय की विविध शाखाएँ भी पूर्णतया यही परिलक्षित करती हैं कि प्राचीन भारत में काँच के नाना प्रकार के बर्तन-भांडों का नितरां प्रयोग होता था और वे बनते भी यहीं थे। वैसे ईसा सन् की आस-पास की शताब्दियों (३०० ई० पू० से ३०० ई० तक) में काँच-भांडों के बाहर से आयात की बात भी सिद्ध होती है। दक्षिणापथ के अरिकमेडु नगर की खुदाई से काँच के विविध प्रकार के बड़े सुन्दर-सुन्दर बर्तन प्राप्त हुए हैं। इन बर्तनों में कुछ तो रोमन सभ्यता के क्षेत्रों तथा पाश्चात्य देशों से मँगाये ज्ञात होते हैं, किन्तु कुछ के सम्बन्ध में

यह मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि वे अरिकमेडु या समीपवर्ती भूभागों में देशी शिल्पियों द्वारा बनाये गये थे। यह ठीक है कि उन पर विदेशी शिल्पविधान का पर्याप्त प्रभाव पड़ा हो।

संस्कृत में दीप शब्द केवल सामान्य मृण्मय (मिट्टी के) या धातव (धातु) के दीप का ही बोधक नहीं है। प्रायः सभी पाश्चात्य संस्कृत कोशकारों ने उसे आधुनिक शीशेवाली लालटेन या लालटेन जैसी वस्तु का भी द्योतक माना है। तभी तो ऐसे दीपों को लेकर राजपथ पर चलना सम्भव हो पाता रहा होगा। रघुवंश में कालिदास ऐसे ही दीप या बड़ी लालटेन का परिनिर्देश करते हैं—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा,
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः।

रामायण तथा महाभारत में एक विशिष्ट प्रकार के दीपक को 'दीपवृक्ष' कहा गया है। यह निश्चित ही शीशेवाली आधुनिक लालटेन जैसी कोई वस्तु रही होगी। आजकल की लालटेन भी तो बनावट में बहुत कुछ वृक्ष सदृश ही लगती है। इन 'दीपवृक्षों' में अवश्य ही काँच के शीशे लगे रहते रहे होंगे और उनका निर्माण भी स्वदेश में ही होता रहा होगा।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि दीपावली पर्व का श्रीगणेश ईसाई सन् के कम-से-कम दो-तीन शती पूर्व हो चुका था। इसी दीपावली के प्रसंग में 'आकाशदीप'[1] का भी धार्मिक-वर्णन और आख्यान आता है। अतः

---

१. प्रसादजी की प्रख्यात कहानी 'आकाशदीप' में ऐसे आकाश-दीपों के लिए अभ्रकमञ्जूषा (अबरक की पिटारी या लालटेन) के प्रयोग की बात कही गयी है। कहा नहीं जा सकता कि ऐसा 'प्रसाद' जी ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर लिखा है या प्राचीनता की वरेण्य

आकाशदीप-प्रथा कम-से-कम बीस-बाईस सौ वर्ष पुरानी है। इन आकाशदीपों को बुझने से बचाने के लिए उस पुराने समय में भी काँच के शीशों का ही व्यवहार होता रहा होगा क्योंकि उस समय तक पारदर्शी कागज या प्लास्टिक के आवरण कदाचित् ही ज्ञात रहे हों।

भारतीय शिल्पशास्त्र के ग्रन्थ 'मानसार' (२५ ई० पू०) के एक्कावनवें और बासठवें अध्याय में काँच से बनायी जानेवाली मूर्तियों का उल्लेख है। उनमें कहा गया है कि त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तथा बैल आदि की प्रतिमाएँ काँच से निर्मित की जाती थीं। बर्तन-मूर्ति प्रभुति वस्तुएँ ढालने की (प्लास्टिक) कला भारत में बहुत प्राचीनकाल में ही अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। अतः काँच-उद्योग की इस शाखा का देश में श्लाघनीय विकास हुआ था। भारतीय भास्कर शिल्प के कठोर नियम-निर्देशनों से निःसंदिग्ध द्योतित होता है कि इस काँच-उद्योग की भारतीयों ने स्वयं बिना किसी विदेशी सहायता एवं अनुकरण के सुचारु उन्नति की थी।

भारत में काँच के ताल (लेंस) बहुत प्राचीन समय से ही बनते थे। ये स्फटिक (नैसर्गिक-काँच) तथा सामान्य कृत्रिम काँच दोनों से ही निर्मित किये जाते थे। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में स्पष्ट लिखा है कि भारत में ताल (हुओ चू) बहुतायत से दिखाई पड़ते थे। 'मानसार' में चश्मा-निर्माण की बात आयी है। इस प्रकार चश्मे के तथा अन्य प्रकार के ताल भारत में ईसाई सन् के आरम्भ के समय से ही बनने लगे थे।

प्रायः यह सुनिश्चित-सा लगता है कि काँच की चूड़ियों का सूत्रपात भारत से हुआ है, क्योंकि कंकण, वलय तथा आवापक आदि महाभारत

रमणीय भूमि में रमनेवाली अपनी सुष्ठु-सङ्गत कल्पना की उद्भावना से। वैसे यह कथा ईसाई सन् के आरम्भ के आस-पास के भारत के उपनिवेश-स्थापना के क्रियाकलापों तथा वृहत्तर भारत के सांस्कृतिक परिवेश को अंकित करती है।

(४०० ई० पू०) काल के या उसके भी पूर्व के आभूषण हैं। सोने-चाँदी के पश्चात् (वैदिक युग की परवर्ती सरणि पर) इनका निर्माण काँच से ही हुआ होगा।

काँच के पुटपाक (भभका, डढ़ुआ, अभिपवण यन्त्र एवं डिस्टिलेशन आपरेटस) तथा कूपियाँ (किसी प्रकार के वोतल) भी अति पुरातन काल में ही वनने लगे होंगे, क्योंकि नाना प्रकार के अम्ल, क्षार आदि औषधों के रखने के लिए काँच भांड सवसे अच्छे, सुकर तथा हलके होते हैं। इस प्रसंग में मेगास्थनीज का मौर्यकालीन सभ्यता का वर्णन द्रष्टव्य तथा अत्यन्त विचारणीय है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र उसके कथनों का प्रति निवेश तथा उपवृंहण करता है। सुविख्यात इतिहासवेत्ता एन० एन० ला उनके एक स्थल के विवरण का निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—उस समय देश में 'ऐसे-ऐसे चिकित्सालय थे जिनमें औषधों का इतना विपुल अकूत भाण्डार होता था कि वे नित्यप्रति व्यवहृत होती हुई भी न जाने कितने वर्षों तक चलती थीं।' विमर्श और तर्क-प्रणाली द्वारा स्वाभाविक अनुमान निकाला जा सकता है कि औषधों के इस भारी भण्डार को समुचित रूप से सुरक्षित रखने के लिए काँच-भांडों एवं काँच-कूपियों का प्रयोग होता रहा होगा। वैसे भी काँचकूपी शब्द पर्याप्त प्राचीन है, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग सवसे पहले कव आरम्भ हुआ इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

समस्त विमर्श के सार को संजोते समय अन्त में यही धारणा और प्रेरणा प्राप्त होती है कि प्राचीन भारतीय काँच-उद्योग की सम्यक् रूपरेखा निर्धारित करने के लिए पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा विविध ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों तथा धरती के गर्भ के अधिकाधिक परिशीलन, शल्य-संस्कार एवं पर्यवेक्षण के माध्यम से और अन्वेषण तथा रहस्योद्घाटन की आवश्यकता है। तभी सुनिश्चित निर्णीत मतों की स्थापना सम्भव है। इस प्रक्रिया से भारतीय काँच उद्योग का प्राचीन प्रथमारम्भ एवं उसका प्राविधिक एवं वैचक्षणिक विकास सभी कुछ दर्पणवत् हो जायगा। काँच के मनके तथा अन्यान्य

वस्तुओं के लिए हरप्पा-मोहनजोदड़ो आदि एवं बसाढ़, भीटा, अरिकमेदु तथा मूर्त्तियों के लिए उत्तर प्रदेश के अहिच्छत्र और एतादृश (वैसे) स्थानों नगरों की खुदाई से काँच सम्बन्धी पुरानी विविध बातों पर नया प्रकाश पड़ने की पूर्ण आशा है। तत्कालीन इतिहाससूत्र से गुंफित विदेशी साहित्यों का अनुशीलन एवं विदेशी स्थानों का उत्खनन भी इस दिशा में अतिशय उपादेय होगा। तभी भारतीय उद्योग धन्धों के पुरावृत्त और पुरातन आर्थिक विकास का चित्र सुष्ठु और प्रभविष्णु रूप से पूर्ण हो पायेगा।

रश्मि | १६

प्राचीन भारत में भी ओलम्पिक का दौर-दौरा था

आधुनिक ओलम्पिक खेल-कूदों का जन्म किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता—यूनान के अभिलेखों से ऐसा विदित होता है कि इनका श्रीगणेश ७७६ ई० पूर्व हो चुका था। तदनन्तर वे ३९३ ई० तक चार-चार वर्ष के अन्तर पर होते रहे। प्राचीन काल में ये यूनानी ओलम्पिक धार्मिक महोत्सवों से सम्बद्ध होते थे। जब सबसे पहले ये आरम्भ हुए थे तो इनमें केवल एक दौड़ की व्यवस्था होती थी, इसके अतिरिक्त कला, नाटक, संगीत तथा मल्ल-स्पर्धा का भी आयोजन होता था। कालान्तर में नाना प्रकार की दौड़ें, चक्रक्षेपण (डिसकस थ्रो), भल्लातक क्षेपण (जैवलिन थ्रो), मुक्की, मल्लयुद्ध, कूद, रथ-दौड़ आदि अन्य बातें भी सम्मिलित हो गयीं। इनमें अधिकांशतः ग्रीस तथा ग्रीक उपनिवेशों के लोग भाग लेते थे। राजा भी सामान्य वर्ग के सदृश—'खेलत में को काको गोसइयाँ' की साम्यवादी भावना से ओत-प्रोत—प्रतिस्पर्धा में उतरते थे, पर महिलाओं को इनमें भाग नहीं लेने दिया जाता था। बहुत काल पश्चात् एक फ्रांसीसी सामन्त कोवर्टिन ने उक्त ओलम्पिक प्रथा का १८९४ ई० में पुनरारम्भ किया। एकदम अर्वाचीन ढंग के ओलम्पिक सर्वप्रथम एथेन्स में १८९६ ई० में आरम्भ किये गये थे।

लगता है, भारत में ओलम्पिकों का जन्म किसी-न-किसी रूप में ऋग्वैदिक काल में हो चुका था। उस समय इसमें अन्तर्गृह क्रीड़ाओं में सामान्य नाटक, मूकक्रीड़ाएँ, साधारण दौड़ और रथों की दौड़ सम्मिलित

थी। सामवेद काल में संगीत, नर्तन, नाटक आदि क्रीड़ाओं पर विशेष जोर दिया जाने लगा—द्यूतक्रीड़ा को लोग हेय दृष्टि से देखने लगे थे। पर दौड़ों का चसका दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था। प्रत्येक वाजपेय यज्ञ में रथों की बड़ी आटोपशाली दौड़ होती थी। घुड़दौड़ों का चसका इतना बढ़ गया था कि अथर्ववेद काल में ही वह अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी थी। आधुनिक डर्बी घुड़दौड़ की भाँति उसमें अर्धवृत्ताकार मार्ग अंकित किया जाता था और विजेताओं को प्रभूत पुरस्कार प्रदान किये जाते थे। राजसूय यज्ञों में भी दौड़ें अनिवार्य कर दी गयी थीं।

बौद्धकाल में भारतीय ओलम्पिकों का खूब उत्कर्ष हुआ। इनमें अन्तर्गृह (इनडोर) और बहिरंग (आउटडोर) दोनों प्रकार के खेलों का पूरा प्रचलन था। बहिरंग खेलों में आखेट, रथदौड़, धनुर्वेद, मुक्की, मल्लयुद्ध, प्रस्तरक्षेपण (डिसकस थ्रो का भाई-बन्धु) तथा 'दीघनिकाय' के अनुसार परिहार दौड़ (आधुनिक हॉपस्कॉच), दो छड़ियों से खेली जानेवाली घटिका (रिपकैट), खलिका (कैरम ढङ्ग का खेल), चौसर, पासा, शतरञ्ज, मोक्खचिका नाना प्रकार की कूद तथा कूड़ी-फर्री कूदना (लाँग जम्प, हाई जम्प का ठेठ देशी नाम) जैसा अहीरों में आज भी प्रचलित है, सर्वप्रधान थे। इन ओलम्पिकों में संगीत, प्रसहन, भाण, जादू, बाँस पर कूदने या नाचनेवालों का भी बड़ा मुग्धकारी जमघट होता था। इनको कभी उत्सव, कभी समाज, कभी विहार कहते थे। यह सब जनता के लिए जनता के सहयोग से राजा के संयोजकत्व तथा तत्वावधान में होता था।

लाहौर संग्रहालय में एक ऐसी प्रतिमा रखी हुई है जिसमें किशोर वा तरुण गौतम बुद्ध (भगवान्) को क्रिकेट वा क्रिकेट जैसा कोई खेल खेलते हुए दिखाया गया है। उनके एक हाथ में बिलकुल क्रिकेटवैट जैसा एक उतार-चढ़ाव वाला बल्ला है तथा नीचे अग्रभूमि में कन्दुक (गेंद) है। (यहाँ यह स्मरणीय है कि सातवीं, आठवीं शती ई० पू० में भारत में गेंद के खेल का अच्छा विकास हो चुका था।) इस प्रकार सम्भव है, प्राचीन

भारतीय ओलम्पिकों में आधुनिक क्रिकेट जैसा भी कोई खेल प्रचलित रहा हो। इस ओर यदि गवेषणा की जाय तो वस्तुस्थिति का पूर्ण और वड़ा आलोड़नकारी रहस्योद्घाटन हो।

भारतीय ओलम्पिकों का सबसे अधिक उत्थान गुप्तकाल में हुआ था। उस समय तक इनका बड़ा सुचारु और सुन्दर संघटन हो चुका था। इसके लिए पूरा एक अभियान 'समाज क्रीड़ा' (पब्लिक स्पोर्ट्स) प्रचलित हो गया था। इसमें जनता, नागरिक, सामन्त, राजा सभी भाग लेते थे। इनका समय ऐसा लगता है, धार्मिक महोत्सवों के अनुसार रखा जाता था और सारे क्रिया-कलाप सरस्वती मन्दिर के समीप होते थे। इनमें सभी गुणों (गिल्डों, क्लवों, अखाड़ों) के लोग तथा दूर-दूर के विशेषज्ञ, कुशल व्यक्ति, खिलाड़ी तथा दर्शक आते थे। इनमें कई नगर, कई क्षेत्र-अञ्चल और पूरा देश भी सम्मिलित होता था। विविध आनुषंगिक तथ्यों के आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि उनमें अफगानिस्तान, मध्य एशिया, लंका, नेपाल, सुमात्रा, जावा, बाली, मलाया, श्याम, चम्पा, कम्बोज—आधुनिक वियतनाम, लाओस आदि भारतीय उपनिवेशों या वृहत्तर भारत के लोग भी वहुत पहले से भाग लेते आ रहे थे।

धार्मिक महोत्सवों, देव-यात्राओं के समय इन ओलम्पिकों में बड़ा आनन्द और उछाह रहता था। काशी भी ऐसे ओलम्पिकों का केन्द्र होता था। एक समय के ऐसे महोत्सव का वर्णन है कि देवयात्रा के उपलक्ष्य में नाना भूभागों से लोग काशी आये थे। उनमें दक्षिणा-पथ के एक मल्ल ने सभी जुटे पहलवानों को एकदम परास्त कर दिया। तब राजा ने अत्यन्त आवेश में आकर एक स्थानीय तरुण ब्राह्मण को बुलाया और उसने देखते-देखते दक्षिणात्य पहलवान को धराशायी कर दिया और काशीवालों की विजय-दुन्दुभी वज उठी। अनुमानतः देवयात्रा के ऐसे ओलम्पिकों का कुंभ तथा अर्धकुंभ के समय भी खूब प्रचलन था।

गुप्तकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक भी भारतीय राजकीय ओलम्पिकों का अच्छा विकास हुआ था। इनमें चार प्रकार के क्रिया-कलाप होते थे—

१. सैन्य कार्य—छुरा, तलवार, धनुष, भाला, गदा, चक्र-क्षेपण। उसमें चुने हुए दक्ष लोग अपना हस्तलाघव दिखाते थे। अन्त में स्वयं राजा की और उनकी प्रतिस्पर्धा होती थी।

२. साहित्यिक कार्यक्रम—कविता, नाटकादि।

३. दौड़ें, हस्तिदौड़ तथा पोलो एवं चौगान—इनमें नाना प्रकार की दौड़ें होती थीं। तदनन्तर हाथियों की दौड़ का समारम्भ होता था। सबके अन्त में पुरस्कार-वितरण होता था।

इन दौड़ों की अन्तरा में पोलो या चौगान (जिसके मुसलमान शासक भी बड़े प्रेमी थे) का खेल होता था। अर्वाचीन पोलो एवं चौगान का जन्म वस्तुतः दसवीं-ग्यारहवीं शती के पूर्व भारत में हो चुका था। बड़े-बड़े राजा और सामंत काम्बोज घोड़े पर चढ़कर यह खेल खेलते थे। इसमें निश्चित दूरी पर आधुनिक ढङ्ग के दो गोले बने होते थे। खेलों की बल्ली बेंत की बनी होती थी और वह मुड़ी होती थी तथा उस पर लाल चमड़ा चढ़ा होता था। गेंद लकड़ी का बना होता था और उस पर भी चमड़ा चढ़ा होता था। आजकल की भाँति सबसे अधिक गोल करने वाला दल विजयी माना जाता था।

४. मल्लयुद्ध—मल्लस्पर्धा का बड़ा व्यवस्थित और सुचारु प्रबन्ध था। इसके लिए आधुनिक—फ्लाई, फेदर, बैण्टम, वेल्टर आदि के ढंग पर वजन के अनुसार टोलियाँ बनायी जाती थीं। पहलवानों के भोजनादि, प्रशिक्षण सभी बातों का सारा व्यय राजा वहन करता था। उसकी अन्य व्यवस्था भी वही करता था। प्रशिक्षण के लिए व्यायामदक्ष और कुशल प्रशिक्षक नियुक्त थे। तदनन्तर स्पर्धा (मैच वा बाउट) का प्रबन्ध होता था। उसकी विशद नियमावली थी। स्पर्धा में भाग लेनेवाले विजयी

मल्लों को नाना प्रकार के पुरस्कार, वस्त्र तथा आभूषण आदि दिये जाते थे।

कामसूत्र (१–३–१६) में सुसंस्कृत तथा पूर्ण सभ्य महिलाओं के लिए चौंसठ कलाओं का अभ्यास तथा पाटव अत्यावश्यक बताया गया है। इसमें संगीत, नाटक, विविध अन्तर्गृह क्रीड़ाओं के अतिरिक्त महिलाओं के लिए शारीरिक श्रमवाली क्रीड़ाओं को भी परमावश्यक कहा गया है। उनमें सर्वप्रधान हैं—उदकाघात (जल-क्रीड़ा का खेल वा व्यायाम) तथा अन्य समुचित व्यायाम क्रीड़ाएँ (व्यायामिकी)। वैसे सबके लिए औत्सर्गिक रूप से व्यायाम को प्रशंसा ख्रीष्टाब्द के आस-पास रचे गये श्लोक में इस प्रकार की गयी है—

............व्यायामात्पुष्टिगात्रस्य।
चत्वारि प्रवर्धन्ते, बुद्धिर्तेज्जो यशोवलम्।

अस्तु, तो क्या महिलाएँ भी नाना प्रकार की क्रीड़ाओं—व्यायामों (स्पोर्ट्‌स) में भाग लेती थीं? कम-से-कम ऋग्वेद के स्वर, वातावरण तथा परिनिर्देशों से तो इसी बात की पुष्टि होती है। हो सकता है परवर्ती काल में जब स्त्रियों पर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये तो उनके समानाधिकार का ह्रास या लोप होने पर उनके लिए भारतीय ओलम्पिकों में भाग लेना निषिद्ध कर दिया गया हो।

प्राचीन भारत में खेल-कूद, मल्लकार्य तथा नाना प्रकार के व्यायाम विशारद के लिए अलग-अलग शब्द थे। कूदने वाले को प्लवित वृत्ति कहते थे। नाना प्रकार के खेलों में दक्ष व्यक्तियों एवं पण्डितों को व्यायामिक वा व्यायामशील कहते थे। व्यायामियों का प्रशिक्षण करने वाले व्यायामविद् कहलाते थे। साधारण खेलने वालों या क्रीड़ा में भाग लेने वालों—क्रीड़ा-पटुओं—को क्रीड़िता या क्रीड़क कहते थे।

उपर्युक्त पुरातन ओलम्पिकों में क्रीड़कों तथा व्यायामिकों की आधुनिक ढंगपर ही विशेष वेशभूषा होती थी। उसे मल्लवेश कहते थे। उनमें वाजे

का भी प्रबन्ध रहता था जैसे आजकल इन्टरवल में वैण्ड वजते हैं। आह्वान के लिए या अन्य कार्यों के लिए मल्लतूर्य नामक वाजा वजाया जाता था। जव उनका पूरा एक जुलूस निकलता था तो उसे मल्लयात्रा कहा जाता था।

प्राचीन वास्तुग्रन्थों शुक्रनीति आदि से ज्ञात होता है कि ऐसे ओलम्पिकों, मल्लकार्यों, व्यायामों, समाज-क्रीड़ाओं (पब्लिक स्पोर्ट्स) के लिए पुरनिवेश (टाउन प्लैनिंग) में वड़ी ही विशद और समीचीन व्यवस्था होती थी। मानसार, मयमतम्, समरांगणसूत्रधार, पुराणादि इस सम्वन्ध में प्रभूत सूचनाएँ प्रदान करते हैं। उनके अनुसार नगर-निवेश में प्रेक्षागृह (थिएटर), चित्रशाला, संगीतभवन, मल्लभूमि तथा समाज-क्रीड़ाओं के लिए वड़ी अभिराम हरीभरी खुली भूमि तथा पट-मण्डप (स्टेडियम) की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन लोग ललित कलाओं, शारीरिक क्रीड़ाओं एवं व्यायामों पर समान रूप से पूरा-पूरा ध्यान देते थे। शुक्र-नीति के अनुसार उद्यान तथा पुरजन विहार स्थान सुविस्तृत एवं एक पंक्ति में होने चाहिये।

ऐसा भास होता है कि हाकी, फुटवाल आदि के आधुनिक ढंग के मैदानों की भाँति उस समय भी पृथक् पृथक् खेलों के लिए पृथक् पृथक् भूमि की व्यवस्था थी। इनमें कुछ को क्रीड़ा, क्रीड़ा-स्थान और क्रीड़ोद्देश कहते थे। विविध प्रकार के अखाड़ों को मल्ल-भूनाम से सम्वोधित किया जाता था। जहाँ पर अथलीटिक स्पोर्ट्स होते थे वह व्यायाम-भूमि कहलाती थी।

नन्द्यावर्त पुरनिवेश में तीन ओर जन-भवनों, सभाभवनों नगर-परिषद-भवनों के बीच-बीच वड़े विशाल कृत्रिम और अकृत्रिम क्रीड़ोद्यान होते थे। इनके एक ओर राजमण्डप—पेवीलियन वा स्टेडियम होता था। पद्मक पुरनिवेश में अर्धवृत्ताकार जनभवनों के सम्मुख उन्मुक्त हरी-हरी भूमि पर ओलम्पिक होते थे। कार्मुक पुर योजना में ओलम्पिक भूमि त्रिकोणाकार होती थी और इसके सम्मुख कुछ दूरी पर नदी की मनोरम छटा आँखों

को मोहती थी। सारे समाज-क्रीड़ा-क्षेत्र का ओलम्पिक क्षेत्र में गमनागम या परिवहन के लिए सुन्दर-सुन्दर स्थानीय सड़कें वनी होती थीं।

विविध पूर्वापर प्रमाणों के आधार पर यह परिलक्षित होता है कि तत्कालीन विश्वविद्यालयों में भी कई ओलम्पिक खेलों तथा व्यायामों की वड़ी समीचीन अच्छी व्यवस्था थी। नालन्दा, वैशाली तथा विक्रमशिला के सम्बन्ध में तो अभी कुछ अकाटच रूप से नहीं कहा जा सकता, पर तक्षशिला के सम्वन्ध में यह पूरा निश्चित है कि वहाँ व्यायामिकी (जिमनास्टिक) तथा सैन्य-खेलकूदों की शालीन व्यवस्था थी और उनके प्रशिक्षण के लिए अनुपम निष्णात व्यक्ति प्रशिक्षक नियुक्त थे। तक्षशिला में इन विद्याओं, कलाओं को सीखने के लिए काशी तक के वड़े-वड़े श्रीमानों, सामन्तों तथा उच्चपदस्थ ब्राह्मणों के लड़के जाते थे।

●

रश्मि | १७

शब्द-शक्ति की सीमा और मन्त्र-शक्ति

कल्पना कीजिये कि संसार के लगभग कुल तीन अरब नर-नारियों में आधे रात्रि के आनन्द में सो रहे हैं और आधे दिन के प्रकाश में अपने कार्य में व्यस्त हैं और आवश्यकतानुसार वा मनमौज में रह-रहकर आपस में बोल-चाल रहे हैं। यदि ये आधे डेढ़ अरब अपने दिन के जागरण काल में केवल तीन घण्टे भी बातचीत करते हों तो क्या आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि ये कितनी विद्युतशक्ति इस प्रकार उत्पन्न करते हैं ? विद्युत ध्वनिशास्त्र (एलेक्ट्रो एकॉस्टिक्स) तथा इंजीनियरिंग द्वारा गणना करके देखा जाय तो लोग केवल उक्त तीन घण्टों में कम-से-कम ६००० खरब वाट विद्युतशक्ति केवल अपने शब्दों या ध्वनियों से उत्पन्न करते हैं। यह विद्युत ऊर्जा दामोदरघाटी, रिहन्द बाँध तथा नंगल भाखरा एवं बम्बई के ट्राम्बे परमाणु प्रतिवर्तक की सम्मिलित शक्ति से कहीं अधिक है, वरन् भारत में जितनी कुल बिजली उत्पन्न होती है, उसकी आठ गुनी है। इस ऊर्जा से विश्व भर में घण्टों प्रकाश किया जा सकता है और यदि उस ऊर्जा की एक यूनिट का दाम केवल आठ आने भी रखा जाय तो इस बिजली का मूल्य एक खरब रुपये होगा। भला बताइये इतने रुपये मानव-समाज केवल ओठ हिलाकर हवा में फूँककर उड़ा देता है और इससे काण्ड खड़ाकर जो हानियाँ और दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, वह अपार क्षति अलग।

अब थोड़ा-बहुत शब्दों की शक्ति और कारनामों का जादू-टोनों का आप वास्तविक अनुमान लगाने लगे होंगे। इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक

डॉक्टर वोएड के इन्द्रजाल के से प्रयोग का वृतान्त सुनिये। उन्होंने एक ऐसा विचित्र यन्त्र बनाया था कि उसके सम्मुख बोलने को कौन कहे, यदि आप केवल मुँह भर खोलें तो उसमें उठनेवाली मुखहिलोर और कंपन स्पष्ट देखे और आँके जा सकते थे। यदि उसके सम्मुख कोई जोर-जोर से बोलने लगे तो यन्त्र के काँच के सामान और उसमें लगे लट्टू चूर-चूर होकर बिखर जायें।

उच्चारित शब्दों का ठीक इसी प्रकार का प्रभाव हमारे तन मन पर भी और सबसे अधिक कानों और त्वचा पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में कान और त्वचा की संवेदनशीलता की शैली लगभग एक प्रकार की होती है। शब्दों के लिए कानों की संवेदनशीलता सबसे अधिक होती है और त्वचा की एतादृश संवेदना प्रायः नगण्य-सी होती है। कान चमड़े का काम तो करते ही हैं, साथ ही वे सूक्ष्म विद्युतघट (वाई मारफस पीजो एलेक्ट्रिक साउण्ड सेल) का काम भी करते हैं। इस प्रकार का विद्युतघट अर्धचालक पत्थरों से दबाव द्वारा उत्पन्न बिजली के सिद्धांत पर बनता है अथवा मोटे रूप में यों समझिये कि कान एक प्रकार का माइक्रोफोन (ध्वनि को बिजली में बदलने वाला संयन्त्र) होता है। कान के उस केन्द्र को आप काक्लियर माइक्रोफोन कह सकते हैं। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें २० से २०,००० आवर्तन का कोई सुनाई पड़ने योग्य शब्द पड़ते ही विद्युत् धारा प्रवाहित होने लगती है तथा वह सीधे मस्तिष्क तक पहुँचती है। तदनन्तर विविध क्रिया-प्रक्रिया प्रतिक्रियाओं आदि को जन्म देती हुई शरीर के सभी भागों एवं ग्रंथियों को सचेष्ट, क्रियाशील और विद्युत-धारावती बना देती है।

चमड़े से इसी प्रकार का काम एक माध्यम द्वारा होता है जैसे किसान और सरकार के बीच जमींदार थे। त्वचा पर पहले ध्वनिचाप (प्रेशर) का प्रभाव पड़ता है, फिर ग्राहक स्नायु तन्तुओं में बिजली का संचार होता है। बिजली की यह धारा तदनन्तर अपनी दीर्घ यात्रा के पश्चात् मस्तिष्क के स्नायुतन्तुओं को अत्यल्प मात्रा में विद्युन्मय करती है।

इस प्रकार शब्दों या उच्चारित वाणी को अतिसंवेदनशील सूक्ष्म विजली की स्विच समझिये। शब्दों का सर्वाधिक प्रभाव—उनका आन्दोलन विलोड़न क्रमशः कर्ण स्नायु, मस्तिष्क, अन्य स्नायु सूत्र, हृदय, छहों अन्तःस्रावी ग्रन्थियों, पेट, वृक्क, यकृत, रक्त तथा आटोनोमिक स्नायु (प्रस्वेद ग्रन्थियों) पर पड़ता है।

जिस समय हम शब्दों का उच्चारण करते हैं, उस समय श्रोता के मस्तिष्क पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। पहला—मुख से शब्द निकलने के प्रथम वक्ता के मस्तिष्क से उसी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें निकलती हैं, जिन्हें श्रोता का मस्तिष्क ग्रहण करने की चेष्टा करता है। दूसरा—उच्चारित शब्द वायु के माध्यम से कर्णरन्ध्रों में होते हुए विद्युत्-संचार या लहरों के रूप में मस्तिष्क में पहुँचते हैं। तदनन्तर वे हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा, भय तथा कामेच्छा आदि आवेगों को मस्तिष्क में उत्पन्न करते हैं और एतदनुरूप शरीरांगों में प्रस्फुरण और संदीपन होता है। शब्द इस प्रकार प्रेरणा, प्रस्फुरण, स्फूर्ति और झकझोर उत्पन्न कर प्रायः शरीर के अवयवों में साधारण अवस्था से अधिक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। वे कभी-कभी निष्क्रियता और शैथिल्य भी उत्पन्न करते हैं।

स्नायुमण्डल पर भी शब्दों के विविध प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। उद्विग्नता, क्लान्ति, शरीरकम्प, चित्त की चंचलता तथा बुरे भयावने स्वप्न उन प्रभावों की स्पष्ट विवृतियाँ होती हैं। मूर्च्छा, स्मृतिभ्रंश और विक्षिप्तता का भी आक्रमण हो सकता है।

शब्दों से काम, क्रोध तथा भय उत्पन्न होने पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और रक्त का दवाव भी बहुत ऊँचा उठने लगता है। रक्त में विशेष प्रकार का विष (टाक्सिन) उत्पन्न होने लगता है। इसी प्रकार हर्षोत्पादक आशाजनक शब्द मस्तिष्क, हृदय और रक्त पर अमृत-तुल्य काम करते हैं।

प्रिय और अप्रिय शब्दों के अनुसार पेट में भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। उनसे भूख और पाचन-क्रिया बढ़ जाती है या घट जाती है।

उन्हीं सब बातों के द्वारा प्रश्नों तथा शब्दों के माध्यम से उत्तेजित कर अपराधों का पता लगाने के लिए 'मिथ्यान्वेषी' (लाइ डिटेक्टर) यन्त्र का आविष्कार किया गया है। शब्दों की बौछार से अपराधी के शरीरांगों में होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं को विद्युत द्वारा ग्रहण कर रहस्य का बहुत-कुछ थाह चल जाता है।

क्रोध, घृणा, भयजनक शब्दों को सुनकर मनुष्य के उपवृक्क (एड्रीनल ग्लैण्ड) से एड्रेलिन नामक स्राव बड़े वेग से निकल-निकलकर रक्त में मिलने लगता है और वह मस्तिष्क को तथा अन्यान्य अंगों को असाधारण रूप से जागरूक और शक्तिशाली बना देता है—पर केवल अत्यल्प काल के लिए। एड्रेलिन के निकलते समय यकृत् (लीवर) से एक विशेष प्रकार की पहले से जमा की हुई चीनी (ग्लाइकोजिन) स्वयं निःसृत होने लगती है। इसी क्रम में लघुशंका की आवश्यकता और मात्रा भी बढ़ जाती है।

प्राचीन ग्रंथों में शब्दों की इन्हीं सब प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर कल्याण, मनकामना सिद्धि, शत्रु-शातन, शत्रु-मारण आदि के लिए विविध शब्द-प्रक्रियाओं का विधान किया गया है। आज-कल यह सब मनोवैज्ञानिक युद्ध (साइकोलॉजिकल वार) या स्नायुशातक युद्ध (वार ऑव नर्व्ज) के अन्तर्गत आता है। मंत्रशक्ति का मूलाधार यही है। शब्दमारण के मूल में यही भावना काम करती है। गाली, मखौल, व्यंग्य, काशन, धमकियाँ, धमाके आदि उन्हीं उपर्युक्त कार्यों की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। पाश्चात्य देशों में इन्हीं के एक रूप को सम्मोहन (हिप्नाटिज़्म) और आत्म-परामर्श (आटो सजेशन) की संज्ञा प्रदान की गयी है यद्यपि वहाँ इनमें उच्चारित और अनुच्चारित शब्द दोनों ही सम्मिलित किये जाते हैं।

प्रसिद्ध रूसी शरीरशास्त्री, चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक आई० पी० पावलाव तथा उसकी शिष्य परम्परा ने शब्दों का बड़ा ही विशद तथा मार्मिक शरीरशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। पावलाव ने

शब्दों को अत्यन्त शक्तिशाली अनुकूलित प्रतिवर्त (उत्तेजक)—कांडिशण्ड रेफ्लेक्स कहा है। इन वैज्ञानिकों ने शब्दों की संजीवनी शक्ति और शब्द-चिकित्सा के क्षेत्र में बड़े-बड़े आविष्कार तथा गवेषणाएँ की हैं और नित नूतन सिद्धान्तों की नींव डालते जा रहे हैं। उन्होंने इस प्रकार मस्तिष्क, स्नायु, पक्षाघात, हृदय, पेट एवं अन्यान्य शरीरांगों की चिकित्सा की सफल विधियाँ निकाली हैं।

अतएव यह स्वयं सिद्ध है कि मंत्रों में निश्चित शक्ति होती है और उनसे सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए सामान्य व्यक्तियों को मंत्र-प्रणेता नहीं कहा गया है, प्रत्युत ऋषियों (महान द्रष्टाओं—व्यक्तियों) को ही मंत्रद्रष्टा कहा गया है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। मंत्रों का ठीक से अर्थ समझकर ठीक-ठीक उच्चारण कर पाठ या पारायण या पुरश्चरण करने से अनुकूल परिस्थितियों में विश्वास होने पर अवश्य सफलता या सिद्धि दृष्टिगोचर हो सकती है। 'ॐह्रीं क्लीं फट्' आदि का यही रहस्य है। हाँ, नाना प्रकार की बातों का उनमें समावेश होने के कारण सफलता तथा सिद्धि की मात्रा में बड़ा भेद हो सकता है।

यहाँ शब्दों के अपूर्व सामंजस्य, संगीत के क्रान्तिकारी और उन्मादक प्रभाव का विशेष विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कविता की हँसा-रुला देने वाली शक्ति, क्रान्ति उत्पन्न कर देने वाली ज्वालामुखीय उदग्रता, तरुणों को उन्मत्त कर देने वाले चलचित्र-गीतों तथा तरुणियों को घर से भगा ले जाने वाले विदेशिया के गीतों से सामान्य लोकजन भी परिचित हैं।

पक्षु-पक्षी, साँप, पेड़-पौधे सभी में बिजली होती है। वे सभी वैसे ही हमारी शब्दोत्पन्न शारीरिक और मानसिक बिजली से अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ही प्रभावित होते रहते हैं। कुछ नवीनतम प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि यदि स्त्रियाँ फसलों की गुड़ाई-निराई गा-गाकर करती हैं तो उससे पैदावार बहुत बढ़ जाती है। शब्दों के आदेश और सम्मोहन द्वारा

पाश्चात्य देशों में घोड़ों, कुत्तों, बिल्लियों आदि को पूर्ण वशंवद बनाकर प्रयोगकर्ताओं ने दिखा दिया है। इससे लगता है कि साँप पर भी सम्मोहन उत्पन्न करना सम्भव हो और समुचित सर्पमंत्र भी कम-से-कम सीमित शक्ति रखते हों।

अब पत्थरों पर भी शब्द और संगीत का अपूर्व प्रभाव सुनिये। यदि बिल्लौर, टुर्मलीन, रोची साल्ट (एक कृत्रिम पत्थर) तथा अमोनियम गन्धित के सम्मुख आप बोलें या गीत गायें तो वे चंचल हो उठते हैं और उनसे विद्युतधारा निकलने लगती है। इसी सिद्धान्त का लाभ उठाकर वैज्ञानिकों ने ध्वनि विद्युद्घट (बाईमारफस पीजोएलेक्ट्रिक साउण्ड सेल) का निर्माण किया है। इस सिद्धान्त के सहारे केवल बोतल जितना स्थान घेरनेवाले ऐसे जंगम रेडियो स्टेशन बनाये गये हैं जिनसे संवाद-संगीत का प्रसारण और ग्रहण बिना किसी बैटरी या बाहरी विद्युत्शक्ति के जंगलों में भी सफल रूप से किया जा सकता है—केवल वक्ता वा गायक के उच्चारित शब्दों से।

कहा जाता है कि तानसेन ऐसा राग गाते थे जिससे दीपक जल उठते थे। बैजू बावरा ने अकबर के दरबार में एक बार ऐसा राग गाया था कि वन से छलाँगें मारते हुए हरिण उसके सम्मुख आ गये थे। इसी प्रकार संगीत-ग्रन्थों में यह भी लिखा हुआ है कि राग-रागिनियों से वर्षा, झंझा आदि उत्पन्न किये जा सकते हैं। हो सकता है इन कथनों और अनुश्रुतियों के मूल में शब्द-शक्ति की अनुपम इयत्ता बाँधी गयी हो। उनमें अतिशयोक्ति स्वीकार कर लेने पर भी सत्य का कुछ अंश मानना ही पड़ेगा।

इसलिए प्राचीन भारतीय वाङ्मय की विविध शाखाओं में कई प्रसंगों में कई स्थलों पर शब्दों को साक्षात् सर्वशक्तिमान ईश्वर ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की गयी है। ईसाई धर्म में तो शब्द से ही समस्त विश्वब्रह्माण्ड की रचना बतायी गयी है—ईश्वर ने कहा—'फाएत लक्स'—'प्रकाश फैले' और उसके इतना कहते ही सृष्टि आरम्भ हो गयी।

ऊपर की मीमांसा तथा वैज्ञानिक विश्लेषण शब्द-ब्रह्म के गूढ़ार्थ को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर वाणी को दूषित करना घोर अनर्थ और पाप कहा गया है। इतना अध्ययन और मनन कर लेने के पश्चात् तब कहीं जाकर इस प्रौढ़ वय में मेरी समझ में आया है कि क्यों मेरे पिताजी मेरे बचपन में मुझे बारम्बार बताया करते थे कि शब्द ब्रह्म है, वाणी को कभी न दूषित करना और मुख से कभी अपशब्द न निकालना।

नवीनतम वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में मूर्तिपूजा की छानबीन

यदि आप किसी भीत, स्तूप, टीले या पर्वत पीठिका से एक निश्चित दूरी पर खड़े होकर कोई शब्द करें या किसी का आवाहन करें तो ठीक उसकी पुनरावृत्ति या प्रतिध्वनि दौड़ कर आपके कानों में गूँजने लगेगी और उस प्रतिध्वनि से आपका मस्तिष्क विद्युत् से आविष्ट हो जायगा। इसी प्रकार यदि विशिष्ट शिलाओं जैसे बिल्लौर के सम्मुख प्रार्थना करें तो उससे इतनी विद्युत पैदा होगी कि आप उसकी सहायता से दिल्ली-लखनऊ रेडियो का संवाद सुन सकते हैं। वैसे ही ताँबा, काँसा, पीतल आदि धातुओं को सहकम्पन द्वारा, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों द्वारा चेतनावान् और ऊर्जा का आगार बनाया जा सकता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि चन्दन और अन्य गन्धवाली लकड़ियों में, जिन्हें आप जड़ समझते हैं, सदैव निम्नावर्तन के पारमाणविक उत्कम्प (लोफ्रोक्वेन्सी वाइब्रेशन) हुआ करते हैं अर्थात् उनमें भी किसी-न-किसी प्रकार का विद्युत उत्कम्प या विशिष्ट संज्ञा वर्तमान होती है। अतएव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनमें—इन उपादानों से बनी विविध वस्तुओं में किसी-न-किसी सीमा तक—प्राण-प्रतिष्ठा संभव है या उनकी सूक्ष्म प्राणवन्तता में अभीष्ट मनोवैज्ञानिक आरोप द्वारा कुछ पर कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

एक बात और मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, धातुओं सभी वस्तुओं में एक और विशेषता होती है कि वे विद्युत चुम्बकीय तरंगों को सोखती हैं, प्रतिवर्तित (रिफ्लेक्ट) करती हैं, परावर्तित (रेफ्रेक्ट) करती हैं और पुनर्विकीर्ण

(रीरेडियेट) भी करती हैं। अतएव किसी भी वस्तु की वनी प्रतिमा में ये चारों विशेषताएँ विद्यमान होती हैं। ये प्रतिमा के सम्मुख आनेवाले सभी व्यक्तियों-भक्तों या आराधक के मस्तिष्क से निकलनेवाली विद्युत चुम्बकीय तरंगों को ग्रहण करती हैं, सोखती हैं, प्रतिवर्तित और उसी प्रकार परावर्तित तथा पुनर्विकीर्ण करती हैं। इस प्रकार प्रतिमाओं के निर्माण और उपासना के मूल में यह भावना निहित होती है कि वे हमारे लिए पवित्रता और पूर्णादर्श का एक सुन्दर केन्द्र वा आगार का काम करें।

हम जब प्रतिमा के सम्मुख पवित्रता, भक्ति और पूर्णादर्श की भावना लेकर जाते हैं तो उस भावना का मूर्तमाध्यम विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें उससे प्रतिवर्तित होकर पुनः हमारे मस्तिष्क से टकराती हैं। यदि यह यथार्थ हो, जैसा प्रायः होता ही है कि अधिकांश दर्शकों की भावनाएँ पवित्र और सुन्दर होती हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि मूर्तियों से प्रतिवर्तित होनेवाली सुन्दर विचारों वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सभी दर्शनार्थियों पर यहाँ तक कि दुष्ट आगंतुकों या दर्शनार्थियों के मस्तिष्क पर अच्छा प्रभाव डालेंगी।

मनौती करने या वरदान माँगने के सम्बन्ध में भी एक बड़ी विचित्र वात होती है। हमारी मनौती की मस्तिष्क की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें प्रतिमा से प्रतिवर्तित होकर हमारी संकल्पशक्ति या इच्छाशक्ति को और सुदृढ़ तथा ऊर्जस्वित बनाती हैं, अतएव हमारी इच्छाशक्ति की दृढ़ता और वर्धमती कर्मठता के कारण हमें जीवन में कुछ अभिलषित सफलता-सी प्राप्त होती दिखायी देती है। तब सामान्यजन यह समझते हैं कि देवता ने तुष्ट या प्रसन्न होकर हमारी मनौती पूरी कर दी। परन्तु इस सम्बन्ध में एक वात स्मरणीय है कि गाँधी जी ने और उच्चकोटि के धर्मग्रन्थों ने ईश्वर देवी-देवताओं से कुछ माँगने का निषेध किया है। अतएव इस आदर्श पर चलना ही श्रेयस्कर है।

परम्परा की दृष्टियों और विचारों का भी मूर्तियों की शक्तिमत्ता और फलात्मकता या जागती होने में बहुत हाथ होता है। मनोवैज्ञानिक धारा

की संतता के कारण वे वस्तुतः पवित्रता—आदर्शों के साकार रूप का काम करती हैं।

मूर्तियों तथा चित्रों में भी जिन-जिन वर्णों का आरोप होता है, वे भी विशिष्ट विकिरण द्वारा (माइक्रोनिक स्पंदनों द्वारा) हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। अतएव मूर्तियों, उनकी वर्ण-दीप्ति, रंग, सौन्दर्य, रंगों का आकर्षण, शांति, उत्साह आदि उत्पन्न कर वर्ण-चिकित्सा का भी काम करते हैं।

यदि देवी-देवताओं, ईश्वर तथा पैगम्बरों की मूर्तियाँ मानव रूपों में या मूर्त रूपों में होती हैं, तो वे मस्तिष्क पर अधिक सशक्त प्रभाव डालती हैं। शिवलिंगोपासना, ब्रह्मपूजा, सम्मयपूजा, मजार, भूत-प्रेतोपासना में इतनी प्रभविष्णुता नहीं आ पाती। भूत-प्रेतोपासना आदि में तो सर्वथा मस्तिष्क विकृत ही होता है। लिंगोपासना आदि केवल प्रतीकात्मक होने के कारण मस्तिष्क में न तो वैसी शक्तिशाली भावनाएँ उत्पन्न कर पाती हैं और न उसमें निराकारता का विशेष सन्निवेश होने के कारण स्फुरणा और ऊर्जा का ही संचार कर पाती हैं।

मूर्तियाँ आत्मपरामर्श (आटो-सजेशन) का सर्वोत्तम तथा बड़ा ही मनोरम प्रतीक भी होती हैं। यह वही आत्मपरामर्श है जिसका स्नायविक तथा मानसिक विकारों की चिकित्सा के प्रसंग में सुप्रसिद्ध रूसी शरीरशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक पावलाव ने पर्याप्त विवेचन किया है, उसकी बड़ी महत्ता गायी है। उनकी शिष्य परम्परा इस आत्मपरामर्श के उन विवेचनों तथा सिद्धान्तों की उत्तरोत्तर और प्रतिनिवेश करती जा रही है। उन्हीं के पारिभाषिक शब्दों में मूर्तियों को बहुत ही प्रबल और सद्यः प्रतिक्रियाशील अनुकूलित प्रतिवर्त (कण्डीशण्ड रिफ्लेक्स) कहा जा सकता है। ये मूर्तियाँ शब्दों से कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक अनुकूलित प्रतिवर्त होती हैं।

प्रतिमापूजन में फूलों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विचारकों, दार्शनिकों, मनीषियों तथा सौन्दर्यशास्त्रियों का कथन है कि फूल ईश्वर

के अलौकिक विचार होते हैं उन्हें उसके अधरों से निःसृत अथवा उच्चारित मूर्तमधुर शब्द कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। उनका सौरभ, रूप और सजावट मूर्ति के वातावरण में अतीन्द्रिय पवित्रता तथा आकर्षण भी भर देती है। इस प्रकार वे मनुष्य तथा सत्यं शिवं सुन्दरं स्वरूप सच्चिदानन्द के बीच परम आह्लादकर सम्बन्ध स्थापित करने में बहुत योग प्रदान करते हैं। भारत में तो प्रायः केवल देवता के बहाने फूलों की खेती और व्यापार होता है; परन्तु विदेशों में घरों की सजावट, कपड़ों के सौन्दर्यवर्धन तथा नाना सांसारिक कार्यों के लिए फूलों की खेती और व्यापार होता है।

प्रतिमाओं में कला की पूर्णता तथा उत्कृष्टता भी इन्हीं उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं को लेकर चलती है। विशिष्ट कला के माध्यम से प्रतिमाओं में अभिव्यक्त उदात्तता, सौम्यता, गाम्भीर्य, सर्वशक्तिमत्ता तथा दुष्टदलन-शीलता आदि की भावना से मस्तिष्क पर तदनुकूल बहुत श्लाघनीय मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। प्रतिमाएँ गुणों, सात्विकता तथा नाना प्रकार की स्फुरणाओं-स्पन्दनों को साकार अथवा मूर्त करने की अभिराम तथा मनोहर विधियाँ हैं। अतएव उद्भट से उद्भट, कट्टर से कट्टर दार्शनिकों पर भी उनका कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभाव पड़ता है—यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम उनकी कला का ही।

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में दो-एक और बातों का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। यदि मंदिर बस्ती से दूर और पृथक् होता है तो उससे प्रतिमा और मंदिर की प्रभविष्णुता-शक्तिमत्ता बहुत बढ़ जाती है। उनकी सुन्दर जलवायु तथा प्राकृतिक आकर्षण भी व्यग्र से व्यग्र तथा व्याकुल से व्याकुल मस्तिष्क को एक अद्भुत शांति तथा अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं। यही कारण है कि उत्तुङ्ग शैल, उत्ताल तरंगमालाओं से विभूषित सागरतट, नदी-तीर, सरितसंगम, रमणीय वनस्पतियाँ, पर्वत-कन्दरायें, द्रोणियाँ अनुपम रूप से मंदिर तथा प्रतिमा दोनों की गरिमा, अलौकिक मोहकता की

अभिवृद्धि करती हैं। इन प्राकृतिक परिस्थितियों तथा भौगोलिक साज-सज्जा एवं अलंकरणों से वे दोनों ही पूर्ण सजीव, प्राणवन्त हो उठते हैं, जिनसे अकूत प्रेरणा प्राप्त होती है।

मंदिरों में आडम्बरहीन पवित्र धर्मग्रंथों से जो मंत्रोच्चारण एवं प्रार्थनाएँ होती हैं वे वायुमण्डल को बड़े ही रमणीय ढंग से निनादित कर समस्त दर्शनार्थियों के मस्तिष्क को एक अप्रतिम विद्युत आवेश एवं प्रणोदन से भर देते हैं। यह समस्त वातावरण मानसिक स्वास्थ्य, आह्लाद और अतीन्द्रिय तथा अनिर्वचनीय परम चेतना उत्पन्न करने में बड़ी सहायता प्रदान करता है।

परन्तु उपसंहार में हमें एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि मूर्तिपूजा में अतिलिप्तता, कालक्रमागत विकृति, उसको मानवता की उपेक्षा, अप्रतिष्ठा अथवा अपमान का माध्यम बना लेना और दिखावा तथा बाह्याडम्बर समस्त आदर्श वातावरण को एकदम नष्ट कर देते हैं, सारे पुनीत उद्देश्यों—मूल भावनाओं को निरसित कर देते हैं और कभी-कभी तो उनकी ऐसी निर्मम हत्या कर देते हैं कि समस्त समाज के लिए करुण और उपचारहीन भय उत्पन्न हो जाता है। अतएव प्रतिमोपासना को बहुत अधिक कर्मकाण्डिकता अथवा ढकोसला के निगड़-निबन्धन से सदैव बचाना भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन जाती है। वैसे ही यांत्रिकता, अन्यमनस्कता, मस्तिष्क की असमाहितता, संकल्पहीनता तथा तादात्म्य का अभाव उसे सर्वथा निष्प्राण एवं निरर्थक ही नहीं बना देते, प्रत्युत उसे सड़न तथा विनाश के बड़े शक्तिशाली माध्यम में रूपान्तरित कर देते हैं।

प्रतिमोपासना का प्रायेण अपरिहार्य आश्रय लेने का एकमात्र कारण गीता का वैज्ञानिक स्वयं इस प्रकार एकदम स्पष्ट कर देता है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १२।५ ॥ गीता ॥

अव्यक्त निराकार की उपासना सर्वोत्तम होती है; किन्तु "निराकार की उपासना बड़ी कठिन और कष्टकर होती है, उसके स्वरूप को समझने में ही विविध प्रकार की उलझनों एवं अवसादों, कष्टों का सामना करना पड़ता है।"

प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, कवि, कथाकार, आलोचक, बहुमुखी साहित्यकार, लेखक। विश्वबन्धुत्व, विश्वशान्ति के अनन्य उपासक। कार्य-सरणि के आरंभ में अध्यक्ष तथा प्राध्यापक, भूगोल विभाग, उदयप्रताप डिग्री कॉलेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। तत्पश्चात् पी० सी० एस० से त्यागपत्र देकर कई वर्ष तक ग्रंथ-लेखन, संपादन, तीन वर्ष तक प्रयाग विश्वविद्यालय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, अन्य विश्वविद्यालयों एवं हस्त-लिखित सरस्वती भाण्डागारों में प्रत्न भारती, वाङ्मय एवं विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान। संप्रति स्वतंत्र साहित्य-सर्जना एवं दिशान्वेषण में संलग्न। अपनी एक जन्मजात वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार यथावसर वैज्ञानिक गवेषणा भी। वाराणसी-सारनाथ के समीप सोनहुला नामक ग्राम में जन्म, वर्ष १९२७ ई०। पिता का नाम—पं० राजाराम तिवारी, माता का नाम श्रीमती मल्लिका देवी। तेरह सौ से अधिक हिन्दी कविताएँ, बारह सौ के लगभग अंग्रेजी कविताएँ, संस्कृत के बहुसंख्यक गीत तथा अन्य साहित्य-सर्जनाएँ। विदेशों में भी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित।